

वौद्ध दर्शन

राहुल सांकृत्यायन

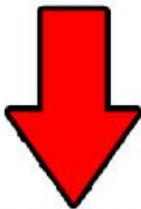


Collect more e-books



A lot collection of Hindi e-books

Please click the link below-



www.ebookspdf.in

प्रथम संस्करण, १९४४
द्वितीय संस्करण, १९४८

मुद्रक—जे० के० शर्मा, इलाहाबाद लाँ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद
प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद

प्राक्कथन

“बौद्ध दर्शन” मेरे ग्रन्थ “दर्शन-दिग्दर्शन” का एक भाग है। तीसरे अध्यायको और विस्तृत रूपमें लिखनेकी आवश्यकता थी, मगर इस सम्मेलनमें वैसा करनेके लिए मेरे पास समय नहीं था, दूसरे सम्मेलनमें आया है, मैं इस कमीको पूरा कर दूंगा। किन्तु, बुद्ध और धर्मकीर्तिके दर्शनको मैंने जितना विस्तारपूर्वक दिया है, उससे बौद्ध दर्शन क्या है, इसे समझनेमें पाठकोको कोई दिक्कत न होगी। और विकासकी भाँति दर्शनके विकासको भी अलग-अलग रखकर अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता, इसलिए बौद्ध दर्शनके विकासको जानने, तथा विश्व-दर्शनमें उसके महत्त्वको समझनेके लिए पीरस्त्य और पाश्चात्य सभी प्राचीन-अर्वाचीन दर्शनोक्त जानना जरूरी है; जिसके लिए “दर्शन-दिग्दर्शन” को पढ़नेकी जरूरत होगी।

प्रयाग
८-१२-१९४३ }

राहुल सांकृत्यायन

पुनश्च—द्वितीय छापमें मैं १९३२ में लिखे अपने एक लेखको प्रथम अध्यायके तीर पर दे सका, और और कुछ जोड़नेके लिए समय नहीं निकाल सका।

प्रयाग
२-१-४८

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

पृष्ठ

पृष्ठ

प्रथम अध्याय

गौतम बुद्धके मूल सिद्धान्त	१
(१) ईश्वरको न मानना	१
(२) आत्माको नित्य न मानना	४
(३) किसी ग्रन्थको स्वतः प्रमाण न मानना	१२
(४) जीवन प्रवाहको इस शरीरके पूर्व और पश्चात् भी मानना	१४

द्वितीय अध्याय

गौतम बुद्ध	१६
१. जीवनी	१६
२. साधारणविचार	२२
(१) चार आर्य सत्य	२३
क. दुःख सत्य	२३
[पाँच उपादान स्कन्ध]	२४
(a) रूप	२४
(b) वेदना	२४
(c) सज्ञा	२४
(d) सस्कार	२४
(e) विज्ञान	२४
ख दुःख-हेतु	२४

ग. दुःख विनाश	२५
घ. दुःख-विनाशका मार्ग	२५
(क) ठीक ज्ञान	२५
(a) ठीक दृष्टि	२६
(b) ठीक संकल्प	२६
(ख) ठीक आचार	२६
(a) ठीक वचन	२६
(b) ठीक कर्म	२६
(c) ठीक जीविका	२६
(ग) ठीक समाधि	२६
(a) ठीक प्रयत्न	२६
(b) ठीक स्मृति	२७
(c) ठीक समाधि	२७
(२) जनतत्रवाद	२८
(३) दुःख-विनाश-मार्ग-की त्रुटियाँ	३०
३. दार्शनिक विचार	३१
(१) क्षणिकवाद	३१
(२) प्रतीत्य-समुत्पाद	३३
(३) अनात्मवाद	३७
(४) अ-भौतिकवाद	३६
(५) अनीश्वरवाद	४१
(६) दश अकथनीय	४८

पृष्ठ

(सर राधाकृष्णन्की
लीपापोतीका जवाब)

(७) विचार-स्वातंत्र्य ..

(८) सर्वज्ञता गलत ..

(९) निर्वाण ..

४ बुद्धका दर्शन और
तत्कालीन समाज-
व्यवस्था

तृतीय अध्याय

नागसेन

१ सामाजिक परि-
स्थिति ..२ यूनानी और भार-
तीय दर्शनोका समा-
गम ..

३ नागसेनकी जीवनी

४ दार्शनिक विचार

(१) अनात्मवाद

(२) कर्म या पुनर्जन्म

(३) नाम और रूप

(४) निर्वाण ..

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध-सम्प्रदाय

१ बौद्ध धार्मिक सप्र-
दाय ..

पृष्ठ

४६

५२

५३

"

५४

६२

"

६२

६५

६०

७४

७५

७७

७७

७७

७७

७७

७७

७७

७७

७७

७७

७७

७७

७७

७७

७७

२ बौद्ध दार्शनिक सप्र-
दाय३ नागार्जुनका शून्य-
वाद ..

(१) जीवनी ..

(२) दार्शनिक विचार ..

(क) शून्यता ..

(ख) माध्यमिक कारि-
काके विचार

(ग) शिक्षाएँ

४. योगाचार और दूसरे
बौद्ध-दर्शन

पंचम अध्याय

बौद्ध दर्शनका चरम विकास

१. असंग

१ जीवनी

२ अमगके ग्रंथ

योगाचार-भूमि

(विषय-सूची)टि०

३ दार्शनिक विचार

(१) ज्ञेय विषय

(क) सत्

(ख) अ-सत्

(ग) अस्तित्व

(घ) नास्तित्व

पृष्ठ

७८

८१

"

८२

८५

८८

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

९०

	पृष्ठ		पृष्ठ
(२) विज्ञानवाद .	१०८	(घ) वाद-अलकार	११६
(क) आलय-विज्ञान	"	(ङ) वाद-निग्रह	"
(ख) पाँच इन्द्रिय-विज्ञान	"	(च) वाद-नि सरण	"
(a) चक्षु-विज्ञान	१०९	(छ) वादेवहुकर वाते .	१२०
(b-c) श्रोत्र आदि विज्ञान	"	(५) परमत-खडन	"
(ग) मन-विज्ञान .	११०	(क) हेतुफल-सद्वाद	"
(मनकी च्युति तथा	"	(ख) अभिव्यक्तिवाद . .	"
उत्पत्ति) . .	१११	(ग) भूतभविष्य सद्वाद	१२१
(a) च्युति . .	"	(घ) आत्मवाद .	१२२
(अन्तराभव) .	११२	(ङ) शाश्वतवाद .	"
(b) उत्पत्ति	"	(च) पूर्वकृत हेतुवाद .	१२३
(३) अनित्यवाद- और	"	(छ) ईश्वरादि कर्तृत्ववाद	"
प्रतीत्य-समुत्पाद .	११३	(ज) हिंसा-धर्मवाद	१२४
(४) हेतु-विद्या	११४	(झ) अन्तानन्तिकवाद	"
(क) वाद	११५	(ग) अमराविक्षेपवाद	"
(ख) वाद-अधिकरण . .	"	(ट) अहेतुकवाद .	"
(ग) वाद-अधिष्ठान .	११६	(ठ) उच्छेदवाद	"
(आठ साधन) .	"	(ड) नास्तिकवाद	१२५
(a) प्रतिज्ञा .	"	(ढ) अग्रवाद .	"
(b) हेतु .	"	(ण) गुद्धिवाद .	"
(c) उदाहरण . .	"	(त) कौतुकमगलवाद	१२६
(d) सारूप्य	११६	४ अन्य विचार .	१२६
(e) वैरूप्य .	११७	(१) स्कंध . .	"
(f) प्रत्यक्ष	"	(क) रूप-स्कंध या द्रव्य	"
(g) अनुमान .	११८	(ख) वेदना-स्कंध .	१२७
(h) आप्तागम . .	११९	(ग) सजा-स्कंध . .	"

	पृष्ठ		पृष्ठ
(घ) सस्कार-स्कध ..	१२७	(न) प्रमाणपर विचार	१५३
(ङ) विज्ञान-स्कध ..	"	(प्रमाण-सत्या)	१५४
(२) परमाणु ..	"	(क) प्रत्यक्ष प्रमाण .	१५५
२. दिग्नाग ..	१२८	(a) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष	"
३. धर्मकीर्त्ति ..	१३०	(b) मानस-प्रत्यक्ष	१५६
१ जीवनी .	१३१	(c) स्वमवेदन-प्रत्यक्ष	१५७
२ धर्मकीर्त्तिके ग्रथ	१३२	(d) योग-प्रत्यक्ष .	१५८
(प्रमाणवार्त्तिक)	१३५	(प्रत्यक्षाभास)	१५९
३ धर्मकीर्त्तिका दर्शन	१३८	(ख) अनुमान-प्रमाण	१६०
(१) तत्कालीन दार्शनिक		(a) अनुमानकी आवश्य-	
परिस्थिति .	१३९	कता .	१६१
(२) तत्कालीन सामा-		(b) अनुमान-लक्षण	"
जिक परिस्थिति	१४१	(प्रमाण दो ही)	१६२
(३) विज्ञानवाद .	१४४	(c) अनुमानके भेद .	"
(क) विज्ञान ही एक		(d) हेतु-धर्म .	"
मात्र तत्त्व .	१४५	(९) मन और शरीर	१६३
(ख) चेतना और भौतिक		(क) एक दूसरेपर आश्रित	"
तत्त्व विज्ञानके ही		(ख) मन शरीर नहीं	१६४
दो रूप ..	"	(ग) मनका स्वरूप ..	१६६
(४) क्षणिकवाद ..	१४७	४ दूसरे दार्शनिकोका	
(५) परमार्थ सत्की		खडन	१६७
व्याख्या ..	१४८	(१) नित्यवादियोका	
(६) नाश अहेतुक		सामान्य रूपसे खडन	१६७
होता है ..	१४९	(क) नित्यवाद-खडन .	"
(७) कारण-समूहवाद	१५२	(ख) आत्मवाद-खडन .	१६८
		(a) नित्य आत्मा नहीं	१६९

	पृष्ठ		पृष्ठ
(b) नित्य आत्माका विचार सारी दुरा- डयोकी जड़ ..	१७०	(a) अपौरुपेयता फ़ज़ूल	१८६
(ग) ईश्वर-खंडन ..	१७१	(b) अपौरुपेयताकी आड- में कुछ पुरूपोका महेत्त्व बढ़ाना .	१८६
(२) न्याय-वैशेषिक-खंडन	१७३	(c) अपौरुपेयतासे वेदके अर्थका अनर्थ .	१८६
(क) द्रव्य-गुण आदिका खंडन ..	१७४	(d) एक बात सच होनेसे सारा सच नहीं .	१८०
(ख) सामान्य-खंडन .	१७६	(e) शब्द कभी प्रमाण नहीं	१८१
(ग) अवयवीका खंडन	१८०	(५) अहेतुवाद-खंडन	१८२
(३) सांख्यदर्शन-खंडन	१८२	(६) जैन अनेकान्तवाद खंडन ..	१८३
(४) मीमांसा-खंडन .	१८५		
(क) प्रत्यभिज्ञा-खंडन .	१८६		
(ख) शब्दप्रमाण-खंडन	१८६		

बौद्ध दर्शन

प्रथम अध्याय

गौतम बुद्धके मूल सिद्धान्त

बुद्धके उपदेशोके समझनेमें सहायता मिलेगी, यदि पाठक बुद्धके इन मूल चार सिद्धान्तों—तीन अस्वीकारात्मक और एक स्वीकारात्मक—को पहले जान लें। वे चार सिद्धान्त ये हैं—

(१) ईश्वरको नहीं मानना, अन्यथा 'मनुष्य स्वयं अपना मालिक है'—इस सिद्धान्तका विरोध होगा।

(२) आत्माको नित्य नहीं मानना, अन्यथा नित्य एक रम माननेपर उसकी परिशुद्धि और मुक्तिके लिए गुजाडग्य नहीं रहेगी।

(३) किसी ग्रन्थको स्वतः प्रमाण नहीं मानना; अन्यथा बुद्धि और अनुभवकी प्रामाणिकता जाती रहेगी।

(४) जीवन-प्रवाहको इसी शरीर तक परिमित न मानना; अन्यथा जीवन और उसकी विचित्रताये कार्यकारण नियमसे उत्पन्न न होकर, सिर्फ आकस्मिक घटनायें रह जायेंगी।

बौद्ध धर्ममें चार बातें सर्वमान्य हैं। इन चार बातोंपर हम यहाँ अलग विचार करते हैं।

(१) ईश्वरको न मानना

ईश्वरवादी कहते हैं—'चूँकि हर एक कार्यका कारण होता है, इसलिए ससारका भी कोई कारण होना चाहिए, और वह कारण

ईश्वर है—लेकिन प्रश्न किया जा सकता है—ईश्वर किस प्रकारका है ? क्या उपादान-कारण, जैसे घड़ेका कारण मिट्टी, कुण्डलका मुवर्ण ? यदि ईश्वर जगत्का उपादान-कारण है, तो जगत् ईश्वरका रूपान्तर है । फिर ससारमे जो भी बुराई-भलाई, सुख-दुःख, दया-क्रूरता देखी जाती है, वह सभी ईश्वरसे और ईश्वरमें है । फिर तो ईश्वर सुखमयकी अपेक्षा दुःखमय अधिक है, क्योंकि दुनियामे दुःखका पलड़ा भारी है । ईश्वर दयालुकी अपेक्षा क्रूर अधिक है, क्योंकि दुनियामें चारो तरफ क्रूरताका राज्य है । यदि वनस्पतिको जीववारी न भी माना जाय, तो भी सूक्ष्म वीक्षणसे द्रष्टव्य कीटाणुओंसे लेकर कीड़े-मकोड़े, पक्षी, मछली, साँप, छिपकली, गीदड़, भेड़िया, सिंह-व्याघ्र, सभ्य-असभ्य मनुष्य—सभी एक दूसरेके जीवनके ग्राहक हैं । ध्यानसे देखनेपर दृश्य-अदृश्य, सारा ही जगत् एक रोमांचकारी युद्धक्षेत्र है, जिसमे निर्वल प्राणी सवलोकिते ग्रास वन रहे हैं । पुनर्जन्म न माननेवाले धर्मोंको तो इसे विना आनाकानी-के स्वीकार करना पड़ेगा । पुनर्जन्मवादी कह सकते हैं कि सभी मुसीबतें पूर्वके कर्मोंके फल हैं, लेकिन यह भी चिन्त्य है । अच्छे-बुरे कर्मोंकी जवाब-देही जानकारको ही हो सकती है । पागल या नशेमे बेहोश या अवोध बालकको दूसरेकी हत्याका दोषी नहीं ठहराया जा सकता । इससे इनकार किसको हो सकता है कि मनुष्यके अतिरिक्त दूसरे प्राणी—जो अपने अच्छे-बुरे कर्मोंके जाननेकी समझ नहीं रखते, और जिनका जीवन दूसरोंकी हत्यापर ही निर्भर है—अपने कर्मोंके जिम्मेवार नहीं हो सकते ? मनुष्योंमे भी बालक, पागल आदि अलग कर देनेपर दायित्व रखनेवालों की संख्या बहुत कम रह जायगी । यदि दुनियामें जवाबदेह आदमियोंकी संख्या डेढ़ अरब मान ली जाय, तो फल भोगनेवाले इतने कहाँसे आयेगें, जिनकी संख्या अपार है । डेढ़ अरबसे अधिक तो कछुये ही होंगे, जो आदमीसे अधिक दीर्घजीवी हैं, और कीटाणुओं तथा हाथी, ह्वेल आदि जैसे विनाश-काय जन्तुओंके बारेमे कहना ही क्या ?

उपादान-कारण है, तो निर्विकार कैसे हो सकता है ? यदि ईश्वरको

निमित्त-कारण माना जाय, अर्थात् वह जगत्को वैसे ही बनाता है, जैसे कुम्हार घड़ेको, मुनार कुण्डलको, तो प्रश्न होगा, क्या वह बिना किसी उपादान-कारणके जगत्को बनाता है, या उपादान-कारणमें ? यदि बिना उपादान-कारणके, तो अभावसे भावकी उत्पत्ति माननी होगी, और कार्य-कारणका सिद्धान्त ही गिर जायगा, तब फिर जगत्को देखकर उसके कारण ईश्वरके माननेकी जरूरत क्या ? यदि इन्द्रजालकी तरह उसने जगत्को बिना कारण मायामय उत्पन्न किया है तो प्रत्यक्षके मायामय होनेपर ईश्वरके होनेका अनुमान ही किस सामग्रीके बलपर होगा ? यदि उपादान-कारणसे बनाता है, तो कुम्हारकी भाँति अलग रहकर बनाता है, या उसमें व्याप्त होकर ? अलग रहनेपर वह सर्वव्यापक नहीं रहेगा, और सृष्टि करनेके लिए उसे दूसरे सहायको और साधनोंपर निर्भर होना पड़ेगा । विद्युत्कणोंसे भी सूक्ष्म नवकणों (Neutrons) तक पहुँचने और उनके मिश्रणसे क्रमशः स्थूलतर चीजोंके बनानेके लिए वह कौनसा हथियार, सुनारकी सैंडामीकी तरह, प्रयोग करेगा ? और फिर सर्वशक्तिमान् कैसे रहेगा ? यदि उसे उपादान-कारणमें सर्वव्यापक मान लिया जाय, तो भी उपादान-कारणके बिना उत्पादन करनेमें अधम होनेपर सर्वशक्तिमान् नहीं । ऐसी अवस्थामें अपवित्रता, क्रूरता आदि बुराइयोंका स्रोत होनेका भी वह दोषी होगा ।

इस प्रकार न वह उपादान-कारण हो सकता है, न निमित्त-कारण । जगत्का कोई आदि कारण होना ही चाहिए, यह कोई जरूरी नहीं । यदि 'उसका कारण कौन, उसका कारण कौन ?'—पूछनेपर जगत्की किसी सूक्ष्मतम वस्तु या उसकी विशेष शक्तिपर नहीं रुकने दिया जाय, तो ईश्वरतक ही क्यों रुका जाय ? क्यों न ईश्वरका भी कोई दूसरा कारण माना जाय ? इस प्रकार ईश्वरका आदि कारण मानना युक्ति-युक्त नहीं ।

कर्ता-धर्ता ईश्वर होनेपर, मनुष्य उसके हाथकी कठपुतली है, फिर वह किसी अच्छे-बुरे कामकेलिए जवाबदेह नहीं हो सकता । फिर दुनियामें उसका सताया जाना क्या ईश्वरकी दयालुताका द्योतक है ?

ईश्वर सृष्टिकर्ता है, यह मानना भी ठीक नहीं। यदि सृष्टि अनादि है, तो उसको किसी कर्ताकी जरूरत नहीं, क्योंकि कर्ता होनेके लिए उसे कार्यसे पहले उपस्थित रहना चाहिए। यदि सृष्टि आदि है, तो करोड़ों करोड़, खरबों खरब वर्षों नहीं, अचिन्त्य अनन्त वर्षोंसे लेकर सृष्टि उत्पन्न होनेके समय तक उस क्रिया-रहित ईश्वरके होनेका प्रमाण क्या? क्रिया ही तो उसके अस्तित्वमें प्रमाण हो सकती है?

ईश्वरके माननेपर, जैसा कि पहले कहा गया, मनुष्यको उसके अधीन मानना पड़ेगा, तब मनुष्य आप ही अपना स्वामी है, जैसा चाहे, अपनेको बना सकता है—यह नहीं माना जा सकता। फिर मनुष्यको बुद्धि और मुक्तिके लिए प्रयत्न करनेकी गुंजाइश कहाँ? फिर तो धर्मोंके बताये रास्ते, और धर्म भी निष्फल। ईश्वरके न माननेपर, मनुष्य जो कुछ वर्तमानमें है, वह अपने ही कियेसे, और जो भविष्यमें होगा, वह भी अपनी ही करनीसे। मनुष्यके काम करनेकी स्वतन्त्रता होने ही पर धर्मके बताये रास्तों और धर्मकी सार्थकता हो सकती है। ईश्वरवादियों द्वारा सहस्राब्दियोंसे धर्मोंके लिए अशान्ति और खूनकी धाराएँ बहाई जा रही हैं, फिर भी ईश्वर क्यों नहीं निपटारा करता? वस्तुतः ईश्वर मनुष्यकी मानसिक सृष्टि है।

(२) आत्माको नित्य न मानना

यहाँ पहले हमें यह समझ लेना है कि बौद्ध अनात्माको कैसे मानते हैं। बुद्धके समय ब्राह्मण, परिव्राजक तथा दूसरे मतोंके आचार्य मानते थे कि शरीरके भीतर और शरीरसे भिन्न एक नित्य चेतनशक्ति है, जिसके आनेसे शरीरमें उष्णता और जानपूर्वक चेतना देखनेमें आती है। जब वह शरीर छँडकर कर्मानुसार शरीरान्तरमें चली जाती है, तो शरीर गीतल, चेत्यारहित हो जाता है। इसी नित्य चेतनशक्तिको वे आत्मा कहते थे। सामीप (Semitic) धर्मोंका भी पुनर्जन्मको छोड़कर, वही मत है। इनके अलावा बुद्धके समयमें दूसरे भी आचार्य थे, जिनका

कहना था—शरीरमें पृथक् आत्मा कोई चीज नहीं, शरीरमें भिन्न-भिन्न परिमाणमें मिश्रित रसोंके कारण उष्णता और चैष्टा पैदा हो जाती है, रसोंके परिमाणमें कमी-बेसी होनेसे वह चली जाती है। इस प्रकार आत्मा शरीरसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। बुद्धने एक ओर आत्माका नित्य कूटस्थ मानना, दूसरी ओर शरीरके साथ ही आत्माका विनाश हो जाना—इन दोनों चरम बातोंको छोड़ मध्यका रास्ता लिया। उन्होंने कहा—आत्मा कोई नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है, बल्कि सास-काण्णोंसे स्कन्धो (भूत, मन)के ही योगसे उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य बाह्य भूतोंकी भाँति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन हो रही है। चित्तके क्षण-क्षण उत्पन्न होने और विलीन होने पर भी चित्तका प्रवाह जब तक इस शरीरमें जारी रहता है, तब तक शरीर सजीव कहा जाता है। हमारे अध्यात्म-परिवर्तन और शरीरके परिवर्तनमें बहुत समानता है।

हमारा शरीर क्षण-क्षण बदल रहा है। चालीस वर्षका यह शरीर वही नहीं है, जो पाँच वर्ष और बीस वर्षकी अवस्थामें था, और न नाठवें वर्षमें वही रह जायगा। एक-एक अणु, जिससे हमारा शरीर बना है, प्रति क्षण अपना स्थान नवोत्पन्नके लिए खाली कर रहा है, ऐसा होनेपर भी हर एक विगत शरीर-निर्मापक परमाणुका उत्तराधिकारी बहुत-नी बातोंमें सदृश होता है। इस प्रकार यद्यपि हमारा पहले वर्षवाला शरीर दसवें वर्षमें नहीं रहता, और बीसवें वर्षमें दस वर्षवाला भी खतम हुआ रहता है, तो भी सदृश परिवर्तनके कारण मोटे तौरपर हम शरीरको एक कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी क्षण-क्षण बदल रहा है, लेकिन सदृश परिवर्तनके कारण उसे एक कहा जाता है। आप अपने ही जीवनको ले लीजिए। दो वर्ष पूर्व दूरसे भी आपको सिगरेटका धुआँ नागवार था, और अब उसे चावसे पीते हैं। दो वर्ष पूर्व चिड़ियोंको स्वयं मारकर फड़फड़ाते देखना, आपके लिए मनोरंजनकी चीज थी, लेकिन अब आप दूसरे द्वारा मारी जाती चिड़ियाको फड़फड़ाते देख स्वयं फड़फड़ाने लगते हैं। यदि आपको अपने मनके झुकाव और उसकी प्रवृत्तियोंको निखरने

रहनेका अभ्यास है, तो आप अपनी पिछली दस वर्षोंकी डायरी उठाकर पढ़ डालिये वहाँ आपको कितने ही विचार ऐसे मिलेंगे, जिन्हें दस वर्ष पूर्व आप अपना कहते थे, किन्तु दस वर्ष बाद आज यदि कोई आपके ही शब्दोंमें आपके पूर्व विचारोंको आपके सामने रखे, तो आप साफ इनकार कर देंगे कि 'यह मेरा विचार नहीं है, न मेरा विचार कभी ऐसा था।' वस्तुतः आपका ऐसा कहना ठीक भी है, क्योंकि आपके पिछले दस वर्षोंके अनुभवों ने आपको बदल दिया है।

आप कह सकते हैं—मन बदलता है, आत्मा थोड़े ही बदलता है। हमारा कहना है, मनसे परे आत्मा कोई चीज नहीं। चित्त, विज्ञान, आत्मा—एक ही चीज है। जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, प्राण, जिह्वा और त्वक् इन्द्रियोंको हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वैसे मनको नहीं। हमें मनकी सत्ता क्यों स्वीकार करनी पड़ती है? आँखें इमली देखती हैं, और जिह्वासे पानी टपकने लगता है। नाक दुर्गन्ध सूँघती है, और हाथ नाकपर पहुँच जाता है। आप देखते हैं, आँख और जिह्वा एक नहीं है, न वे एक दूसरेसे मिली हुई हैं। इसलिए इन दोनोंको मिलानेके लिए एक तीसरा इन्द्रिय चाहिए, और वह मन है। पाँचों ही इन्द्रियाँ अपने-अपने ज्ञानको जहाँ पहुँचाती हैं, और जहाँसे शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंको गतिका अनुशासन मिलता है, वह मन है। वही ग्रहण, चिन्तन और निर्णय करता है। वह ग्रहण आदि कैसे करता है? फीजके कमाण्डरकी तरह अलग बैठकर नहीं, बल्कि जैसे पाँच ट्यूबोंमें लाल, पीले, हरे, नीले, काले रंगका चूर्ण पड़ा हुआ हो, और नीचे एक ऐसी काँचकी नलीसे पानी वह रहा हो, जिसमें पाँचों ट्यूबोंके मुँह मिले हुए हो, और ट्यूबोंका मुँह वारी-वारीसे खुल रहा हो। जिस समय जो रंग पानीपर पड़ेगा, पानी उसी रंगका हो जायगा। इसी तरह जब आँख काले साँपकी ओर लगती है, तो काले साँपका हमें दर्शन होता है। फिर यह ज्ञान तुरन्त मनमें पहुँचना है। उस क्षणका मन, जो अपने कारण भूत पुराने मनोके अनुभवोंका बीज अपनेमें रखता है, इस नये ज्ञानरूपी चूर्णके गिरनेसे तदाकार

हो, भयके रगमें रँग जाता है। यदि एक क्षण ही साँपको देख हमें रुक जाना हो, तो भी हिलाकर छोड़ दिये पहियेकी भाँति कई क्षण तक एक-एकके बाद उत्पन्न होनेवाला मन उम रगमें रँग जायगा; यद्यपि हर द्वितीय क्षणके मनपर उसका असर फीका पड़ता जायगा। और यदि साँप कई क्षणों तक दिखाई देता रहा, और आपकी तरफ भी आता रहा, तो क्षण-क्षणपर उत्पन्न होनेवाले मनपर भयका सचाग अधिक होना जायगा। जो बात भयप्रद विषयोंके बारेमें है, वही प्रीतिप्रद तथा दूसरे विषयोंके बारेमें भी समझनी चाहिए।

अस्तु, उक्त कारणसे चक्षु आदि इन्द्रियोंके अतिरिक्त हमें उनके संयोजक एक भीतरही इन्द्रियको माननेकी जरूरत पड़ती है, जिसे मन कहते हैं। इससे परे आत्माकी क्या आवश्यकता? यदि कहें कि पुराने अनुभवोंको स्मृतिके रूपमें रखनेके लिए, क्योंकि मन तो क्षणिक है (यद्यपि यह बात वे नहीं कह सकते, जिनके मतसे मन क्षणिक नहीं), तो हम कहेंगे—मन क्षणिक है, किन्तु वह अपने परवर्ती मनका कारण भी है। आनुवर्गिक नियमके अनुसार जैसे माता-पिताकी बहुत-सी बातें पुत्र-पौत्रमें आती हैं, उसी प्रकार पूर्व मन अपने अनुभवोंका बीज या मन्कार पिछले मनके लिए वरासतमें छोड़ जाता है, और वही स्मृतिका कारण है। वस्तुतः संस्कारका ठप्पा तो क्षणिक वस्तुपर ही लग सकता। आत्माको यदि कूटस्थ नित्य माने, तो वह अनन्त काल तक एक रस रहनेवाली होगी। भला, सदाके लिए एक रस रहनेवाले आत्मापर अनुभवोंका ठप्पा कैसे पड़ सकता है? यदि पड़ सकता है, तो ठप्पा पड़ने ही उसका रूप-परिवर्तन हो जायगा। आत्मा कोई जड़ पदार्थ नहीं है, जिसके निर्णय बाह्य अवयवपर ही लाञ्छन लगेगा। वह तो चेतनमय है, इसलिए ऐसी अवस्थामें इन्द्रिय-जनित ज्ञान उसमें नर्वन्त्र प्रविष्ट हो जायगा। फिर वह राग, द्वेष, मोह—नाना प्रकारोंमेंसे किसी एक रूपवाला हो जायगा। तब फिर वह वही आत्मा नहीं हो सकता, जो ठप्पा लगनेमें पहले था। अतएव वह एक रस भी नहीं हो सकता। फिर आत्मा नित्य है कैसे?

यदि थोड़ी देरके लिए मान भी लें कि ठप्पा लगता है, तो वह अमौनिक संस्कार भी नित्य आत्मामें लगकर अविचल हो जायगा। तब फिर शुद्धि या मुक्तिकी आशा कैसे की जा सकती है ?

यदि कहें—कोई नित्य आत्मा नहीं है, तो मनके क्षणिक होनेसे, शरीरके नष्ट हो जानेपर अच्छे-बुरे कर्मोंका विपाक कैसे होगा ? यहाँ पहले यह समझ ले कि बौद्ध विपाक कैसे मानते हैं। वे यह नहीं मानते कि हम जो कुछ भले-बुरे काम करते हैं, उसे लिखनेके लिए ईश्वरने हमारे पीछे द्रुत लेखक लगा रखे हैं। हम अच्छे या बुरे जैसे भी कायिक-वाचिक कर्म करते हैं, सभी कर्मोंका उद्गम हमारा मन है। अतः द्वेषयुक्त काम करनेके लिए मनको द्वेषयुक्त बनना पड़ता है; रागयुक्त काम करनेके लिए मनको रागयुक्त बनना पड़ता है। मनकी उस वनावटकी, उस ध्वनिकी गूँज तब तक जारी रहती है, जब तक वह व्ययसे या विरोधी ध्वनिसे आकर टकरानेसे नष्ट नहीं हो जाती। आदमी एक दिनमें क्रूर नहीं बन जाता। आपरेगन करनेवाले डाक्टरको भी धीरे-धीरे अपने मनको कड़ा करना पड़ना है, फिर खूनीकी तो बात ही क्या ? जब किसी असहाय, निरपराध बालिकाको पीटते देख दर्शकोंका मन प्रभावित हुए बिना नहीं रहता (यद्यपि वह दूसरी दिगामे—करुणाकी ओर), तो स्वयं मारनेवालेका मन सन्नत हुए बिना कैसे रह सकता है ? सुतराम् हम जो काम करते हैं, उसका असर तत्काल मनपर पड़ता है। जितना ही मन कड़ा होता जाता है—उतना ही उसमें सूक्ष्म मानसिक चिन्तन और विकासकी योग्यता कम होती जाती है।

अच्छे-बुरे मनोभाव धन और ऋणकी तरह हैं। यदि धनकी राशि अधिक रही, ऋणकी कम, तो धनका पलड़ा भारी रहेगा। यह हिसाब मनकी क्षण-क्षणकी वनावटमें स्वयं होता रहता है। यहाँ हिसाबका टोटल महीनो, हफ्ता, दिनोंके बाद नहीं, बल्कि तुरन्त-का-तुरन्त होता रहता है। मनुष्य क्या है, अपने पिछले भले-बुरे अनुभवोंका पूर्ण योग। दूसरे क्षण उत्पन्न होनेवाले मनको बहुतसी बातें अपने-जनक मनमें बराबरमें

मिलती है। यह वरासतका मिलसिला हमारे गटकपनने वृद्धपन तक रहता है—इमे समझनेमें अडचन नहीं होगी। लेकिन बुद्धकी शिक्षाके अनुसार यह सिलसिला जन्मस पहले भी था, और मृत्युके बाद भी रहेगा। अपने पिछले अनुभवोंमें बने हुए मनकी उपमा, मृत्यु-क्षणमें जिस वक्त वह इस शरीरको छोड़नेके लिए तैयार रहता है, उस तप्त नीह-धारमें दी जा सकती है, जो एक ऐसी नालीके सहारे नीचे बहती चली आई हैं, जो एक टीलेके पास आकर रुक जाती हैं। उस टीलेके दूसरी ओर एक ऐसी दूसरी नाली है, जिसके धारम्भपर पर्याप्त चुम्बक-राशि है, तो वह जरूर इस धारकी नालीमें डालनेके लिए सर्वत्र होगी। इसी प्रकार मृत्युके समय चित्र-प्रवाह अपनी सत्कार-राशिके साथ इस जीवनके छान्पर खड़ी रहती है। वह सत्कार-राशिरूपी चुम्बक समान धर्मवाले समीप-तम शरीरमें खींचकर फिर उसकी वही पुरानी कार्रवाई शुरू करा देता है। यह क्रम तब तक जारी रहता है, जब तक तृष्णाके क्षयमें यह मन्तवि विश्रुखलित हो, निर्वाणकी नहीं प्राप्त हो जाती। इस प्रकार कर्म, कर्म-फल और जन्मान्तर होता है।

जीवको नित्य माननेमें बहुतसे दोष होते हैं। यदि आप उसे नित्य मानते हैं, तो उसे सिर्फ अमर ही नहीं, अजन्मा भी मानना होगा। फिर समीप धर्मोंमें भी तो, जहाँ पुनर्जन्म नहीं मानते, यह मानना होगा कि जीव अरब-खरब वर्ष नहीं बल्कि अनादि कालसे आज तक चुपचाप निश्चेष्ट पड़ा रहा। अब एक, पचास, या सौ वर्ष तकके लिए, बिना किसी पूर्व कर्मके, इस दुनियामें जन्मान्व या नेत्रवान्, जन्मरोगी या न्वन्य, मन्दबुद्धि या प्रतिभाशाली बन कर उत्पन्न हो गया है, और मरनेके बाद फिर अनन्तकाल तकके लिए अपने कुछ वर्षोंके बुरे-भले कर्मोंके कारण स्वर्ग या नरकमें डाल दिया जायगा। क्या इस तरहकी नित्यता बुद्धि-युक्त मानी जा सकती है? जो लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं, और साथ-साथ आत्माको नित्य भी, उनकी ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। जब वह नित्य है, तो कूटस्थ भी है, अर्थात् सदा एक-रस रहेगा, फिर ऐसी

एक-रस वस्तुको यदि परिगुद्ध मानते हैं, तो वह जन्म-मरणके फेरमे कैसे पड़ सकती है ? यदि अगुद्ध है, तो स्वभावतः अगुद्ध होनेसे उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है ? नित्य कूटस्थ होनेपर सस्कारकी छाप उसपर नहीं पड़ सकती, यह हम पहले कह चुके हैं । यदि छापके लिए मनको मानते हैं, तो आत्माको माननेकी जरूरत ही क्या रह जाती है ?

प्रश्न हो सकता है कि यदि मन तथा आत्मा एक है, और वह क्षणिक है, तो अनेकतामे—‘मैं पहले था, मैं अब हूँ’—ऐसी एकता का भान क्यों होता है ? इसका उत्तर है कि समुदायमे एकत्वकी वृद्धि दुनियाका सार्वभौमिक नियम है । हम संसारकी जिस किसी चीज़को लेले, सभी हजारों अणुओंसे बनी है, जिनके बीच काफ़ी अन्तर है । यह बात लोहे, प्लेटिनम, हीरे—सभी ठोस-से-ठोस वस्तुकी है । यदि हमारी दृष्टि उतनी सूक्ष्म होती, तो हम उन्हें ऐसे ही अलग-अलग देखते, जैसे पास जानेपर जगलके वृक्ष । इस प्रकार दुनियाके सभी दृश्य पदार्थोंके मूलमे अनेकता होनेपर भी एकताका व्यवहार किया जाता है । अनगिनत टुकड़ोंके बने हुए शरीरको हम एक शरीर कहते हैं । अनेक वृक्षोंके बने हुए जगलको एक जंगल कहते हैं । अनेक तारोंके झुरमुटको एक तारा कहते हैं । हाँ, एक फर्क जरूर है । जहाँ शरीर, वन, तारोंमे अंशों और अंश एक कालमें और एक देगमे मौजूद रहते हैं, वहाँ मन प्रतिक्षण एकके बाद एक उत्पन्न होता रहता है । इसके लिए अच्छा उदाहरण बनेठी, चलते वायुयानका पंखा, या चलती बिजलीका पंखा ले सकते हैं । बनेठी-की रोगनी, या पंखेका पंख जल्दी-जल्दी इतने सूक्ष्म कालमे एक स्थानमे दूसरे स्थानपर पहुँचता है कि हम उसे ग्रहण नहीं कर सकते, और काल एक स्वतन्त्र मान वन उसे चक्रके रूपमें ला रखता है । इसी प्रकार मन भी इतना शीघ्र अपनी जगह पर दूसरे मनको उपस्थित कर रहा है कि बीचके अन्तरको हम नहीं ग्रहण कर पाते, और हमें चक्रकी एकताका भान होने लगता है । नदीकी धाराको भी तो आप एक कहते हैं, किन्तु क्या वह जल हजारों बिन्दुओंमें, और बिन्दु अगणित उद्भजन, ओपजनके

परमाणुओंसे, और परमाणु अनेक धनऋण विशुत्कर्णोमि (जिनके भीतर चक्कर काटनेके लिए काफी अन्तर है), और फिर सूक्ष्मतम अनेकों नूट्रनोंसे नहीं बने हैं ? वस्तुतः ससारमें सभी जगह समुदाय हीकों एक कहा जा रहा है। जब हमारी भाषाका यह एक सार्वभौमिक प्रयोग है, तब क्षणिक मनकी सन्नति (??प्रवाह)को साधारण दृष्टिसे हम एक कहने लगे, तो आश्चर्य क्या है ? आश्चर्य तो यह है कि नारी दुनियामें एक कही जानेवाली चीजोंको समूहिन देखते हुए भी पूछते हैं—समूहिन है, तो आत्मा क्यों एक मालूम होता है ? सवाल ही सक्ता है—जब आत्मा क्षणिक है, दूसरे क्षण वह रहता ही नहीं, तो उसकी पूर्णता और परिशुद्धि कैसे ? उत्तर यह है कि हम मनको क्षणिक मानते हुए भी मनकी सन्नतिको क्षणिक नहीं मानते। गंगाका पानी, उसका आवाह, दोनों कूल और बालू सभी बराबर बदल रहे हैं, तो भी सबका प्रवाह बना रहता है, जिसे हम एक मान गंगा कहते हैं। इसी चित्त-सन्नतिकी परिशुद्धि और पूर्णता करनी होती है। जितनी ही चित्त-सन्नति राग, द्वेष, मोह-के मलोसे मुक्ति होती है, उतना ही उस पुरुषके कार्यात्मक, वाचिक, मानसिक कर्म परिशुद्ध होते जाते हैं, जिनके फलरूप वह व्यक्ति अपने-परायेका उपकार करनेमें समर्थ होता है। जब उसमें राग-द्वेषका गंध नहीं रह जाता, तो व्यक्तिगत स्वार्थके केन्द्रपर केन्द्रित तृष्णा क्रमशः परिवार, ग्राम, देश, भूमण्डल, प्राणिमात्रके स्वार्थको अपना बना, अपनी परिधि को अनन्त तक पहुँचा देती है। उस वक़्त अनन्त परिधिवाली वह तृष्णा बन्धन-रहित हो तृष्णा ही नहीं रह जाती, उस पुरुषके लिए निर्वाणका मार्ग उन्मुक्त हो जाता है, और वह दुलके फदेने छूट जाता है। मुक्ति तक पहुँचनेके लिए पुरुषको निजी स्वार्थकी सीमा पार कर लोकहितार्थ सब कुछ उत्सर्ग करना पड़ता है (चाप जातककी सुन्दर कहानियोंमें देखेंगे, पूर्णताके लिए बोधिसत्त्वको कितना उत्सर्ग करना पड़ता है)। तृष्णाको छोड़ना दुखके मार्गको रोकना है, क्योंकि दुनियामें अधिकांश दुख तृष्णा और स्वार्थके कारण ही तो हैं ?

इस प्रकार मनके क्षणिक होनेपर, चूँकि चित्त-सन्तति क्षणिक नहीं है, इसलिए उसकी पूर्णता और परिगुद्धि करनी पड़ती है। वस्तुतः यदि आत्माको नित्य कूटस्थ आत्मा न मान, उसके स्थानपर क्षण-क्षण उत्पन्न होनेवाले चित्तोंकी सन्ततिको माना जाय, तो शब्दपर हमारा कोई आग्रह नहीं है। चूँकि आत्म शब्द नित्य चेतन वस्तुके लिए व्यवहार होता था, इसलिए बुद्धने अन्-आत्म शब्दका प्रयोग किया।

(३) किसी ग्रन्थको स्वतः प्रमाण न मानना

स्वतः प्रमाण होनेका दावा करनेवाला सिर्फ एक ग्रन्थ नहीं है। सभी धर्मवाले अपने-अपने ग्रन्थको स्वतः प्रमाण मानते और मनवानेकी कोशिश करते हैं। ब्राह्मण वेदको स्वतः प्रमाण मानते हैं, जिसकी बहुत-सी बातें अन्य धर्मवालोंकी पुस्तकों एव विज्ञानकी कितनी ही प्रयोग द्वारा सिद्ध बातोंके विरुद्ध पड़ती हैं। फिर ऐसा ग्रन्थ स्वतः प्रमाण कैसे माना जा सकता है? यदि कहो कि वेद विज्ञानके प्रयोग-सिद्ध सिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं, तो सवाल होगा—यह कैसे मालूम? उसकी सिद्धिके लिए अन्तर्में बुद्धिका ही आश्रय लेना पड़ेगा। फिर क्या इससे सिद्ध नहीं होता कि वेदकी प्रामाणिकता भी बुद्धिपर निर्भर है? फिर तो वेदकी अपेक्षा बुद्धि ही स्वतः प्रमाण हुई। जो बात यहाँ वेदके बारेमें कही गई, वही बाइबिल, अंजील, कुरान आदि स्वतः प्रमाण मानी जानेवाली पुस्तकोंके बारेमें भी समझना चाहिए। वस्तुतः जब ईश्वर ही नहीं, तो ईश्वरकी पुस्तक कहाँसे होगी?

पुस्तकोंके स्वतः प्रमाण माननेसे दुनियामे कितने भयंकर अत्याचार हुए हैं। गेलेलियोकी वह दुर्गति न होती, यदि बाइबिलको स्वतः प्रमाण नहीं माना जाता। और भी कितने वैज्ञानिकोंको जानसे हाथ न धोना पड़ता, यदि बाइबिलको स्वतः प्रमाण न माना जाता। यवन तत्त्व-वेत्ताओंके सहस्राब्दियोंके परिश्रम ग्रन्थरूपमें जिस सिकन्दरियाके पुस्तकालयमें सुरक्षित थे, उनको जलाकर खाक न किया गया होता, यदि

मुसलमान विजेता कुरानको स्वतः प्रमाण न मानते। किसी ग्रन्थका स्वतः प्रमाण मानना अस्महिष्णुताका कारण होता है, इसने दुनियामे हजारों वर्षोंसे मनुष्य-जातिको धर्मान्विता, मिथ्या-विश्वास और मानसिक दासताके गढ़मे ही नहीं गिरा रखा है, बल्कि इसने ज्ञानके प्रसारमे रुकावट पैदा करनेके साथ खूनसे भी धरतीको रंगनेमे मदद दी है। ईगार्ड धर्म-युद्ध क्या थे, वाइविल और कुरानके स्वतः प्रमाण होनेके झगड़ेके परिणाम।

किसी ग्रन्थका स्वतः प्रमाण मानना, उसमे वर्णित विषयोपर सन्देह न कर आगेकी जिज्ञासाको रोक देना है। जिज्ञासा ही दुनियाके बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कारोंके करनेमे कारण हुई है। यदि गैनेलियो वाइविलके कहे अनुसार पृथिवीको चिपटी मान लेता, तो उसे पृथिवीके गोल होनेके प्रमाणोंका भान न होता। यदि केप्लर वाइविलके न्यूथ्रमणको निभ्रन्ति मान लेता, तो पृथिवीके घूमनेके अपने तीन नियमोंका कहाने आविष्कार करता? वस्तुतः ग्रन्थके स्वतः प्रमाण माननेपर न्युटन गुरुत्वाकर्षणका पता न लगा सकता और न आइन्स्टाइन उसके मशौघक सापेक्षताका महान् सिद्धान्तका आविष्कार कर सकता। वस्तुतः मगारमे विद्या, सभ्यता सम्बन्धी जितनी भी प्रगति हुई है, वह ग्रन्थोंके स्वतः प्रमाणके इनकारसे हुई है। व्यवहारमे कौन मनुष्य अपने धर्म-ग्रन्थकी स्वतः प्रामाणिकता मानता है? ग्रन्थ अपने-अपने समयकी रुढ़ियों, अन्ध-विश्वासों और अज्ञताओंसे जकड़े होते हैं। वह अपने समयके धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवहारोंके परिपोषक होते हैं। महान् विद्वानों वाद वह बातें मरी हुई रहती हैं, तो भी वह मरे मुर्देको गले मटना चाहते हैं। सेन्टपालके समय स्त्रियोंका सिर ढकना उस समयके फैशनके अनुसार अच्छा समझा जाता हो, किन्तु उस निर्यावटके कारण आज युरोपकी स्त्रियोंको गिरजेमे और न्यायालयमे कसम खाते वान टोरी लगानेपर मजबूर क्यों किया जाय, जब कि दूसरी जगह समाज उनकी आवश्यकता नहीं समझता है?

ग्रन्थके स्वतः प्रमाण होनेके लिए उसके कर्ताको सर्वज्ञ मानना पड़ेगा—

सर्वज्ञ भी सभी देव, सभी काल, सभी वस्तुके सम्बन्धमे । फिर यदि कोई सर्वज्ञ हमारे पैदा होनेसे हजार वर्ष पूर्व हमारे द्वारा किये जानेवाले अच्छे-बुरे सभी कर्मोंको जानता था, तब तो हम आज वैसा करनेपर मजबूर हैं, अन्यथा उसकी सर्वज्ञता भूठ हो जायगी । फिर मनुष्य ऐसे सर्वज्ञके हाथमे क्या कठपुतली मात्र नहीं है ? फिर कठपुतलीको अपने लिए अच्छा-बुरा काम चुनने और करनेका क्या अधिकार ? और तब ऐसे धर्म उसके ग्रन्थ और उसमें कही गई शिक्षाओंका प्रयोजन क्या ?

परिगुद्ध और मुक्त बननेके लिए कर्म करनेमे मनुष्यका स्वतन्त्र होना जरूरी है । कर्म करनेकी स्वतन्त्रताके लिए बुद्धिका स्वतन्त्र होना जरूरी है । बुद्धि-स्वातन्त्र्यके लिए किसी ग्रन्थकी परतन्त्रताका न होना आवश्यक है । वस्तुतः किसी ग्रन्थकी प्रामाणिकता उसके बुद्धिपूर्वक होनेपर निर्भर है, न कि बुद्धिकी प्रामाणिकता ग्रन्थपर ।

उक्त तीन अस्वीकारात्मक बातें हैं, जिन्हें बुद्ध-धर्म मानता है ।

(४) जीवन-प्रवाहको इस शरीरके पूर्व और पश्चात् भी मानना

वच्चेकी उत्पत्तिके साथ उसके जीवनका आरम्भ होता है । वच्चा क्या है ? शरीर और मनका समुदाय । शरीर भी कोई एक इकाई नहीं है, बल्कि एक कालमें भी अमंख्य अणुओंका समुदाय । यह अणु हर क्षण बदल रहे हैं, और उनकी जगह उनके समान दूसरे अणु उत्पन्न हो रहे हैं । इस प्रकार क्षण-क्षण शरीरमे परिवर्तन हो रहा है । वर्षों बाद वस्तुतः वही शरीर नहीं रहता, किन्तु परिवर्तन सदृश परमाणुओं द्वारा होता है, इसलिए हम कहते हैं—वह वही है । जो बात यहाँ शरीरकी है, मनपर भी लागू होनी है, फर्क यही है कि मन नूक्ष्म है, उसका परिवर्तन भी नूक्ष्म है, और पूर्वापर रूपोंका भेद भी नूक्ष्म है, इसलिए उन भेदका समझना दुष्कर है । आत्मा और मन एक ही हैं, और आत्मा क्षण-क्षण बदल रहा है, यह हम दूसरी जगह कह आये हैं ।

शरीर और मन (=आत्मा) दोनों बढ़न रहे हैं। किसी धनके बालकके जीवनको ले लीजिए, वह अपने पूर्वके जीवनागके प्रभावसे प्रभावित मिलेगा। क ख सीखनेसे लेकर बीचकी श्रेणियोंमें होता हुआ जब वह एम० ए० पास हो जाता है, उसके मनकी सभी परिवर्ती अवस्था उसकी पूर्ववर्ती अवस्थाका परिणाम है। वहाँ हम किन्नी बिचली एक कडीको छाँड नहीं सकते। बिना मैट्रिकसे गुजरे कैसे कोई एफ० ए० में पहुँच सकता है ? इस प्रकार कार्य-कारण-शृङ्खला जन्मसे मरण तक अटूट दिखाई पड़ती है। प्रश्न है, जब जीवन इतने लम्बे समय तक कार्य-कारण-सम्बन्धपर अवलम्बित मालूम होता है और वहाँ कोई स्थिति आकस्मिक नहीं मिलती, तो जीवनके आरम्भमें उसमें कार्य-कारण नियम-को अस्वीकार कर क्या हम उसे आकस्मिक नहीं मान रहे हैं ? आकस्मिकता कोई सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि उसमें कार्य-कारणके नियमोंसे ही इनकार कर देना होता है, जिसके बिना कोई बात सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि कहे—माता-पिताका शरीर जैसे अपने अनुरूप पुत्रके शरीरको जन्म देता है, वैसे ही उनका मन तदनुरूप पुत्रके मनको जन्म देता है, तो कुछ हद तक ठीक होनेपर भी यह बात सर्वांशमें ठीक नहीं जँचती। यदि ऐसा होता, तो मन्दबुद्धि माता-पिताओंको प्रतिभाशाली पुत्र, ऐसे ही प्रतिभाशाली माता-पिताओंको मन्दबुद्धि पुत्र न उत्पन्न होते। पंडितकी सतान बहुधा मूर्ख देखी जाती है। ये दिक्कते हट जाती हैं, यदि हम जीवन-प्रवाहको इस शरीरके पहलेसे जान लें। फिर तो हम कह सकते हैं, हर एक पूर्व जीवन परिवर्ती जीवनको निर्माण करता है। जिस प्रकार तानने निकला लोहा, पिघलाकर बना कच्चा लोहा और अनेकों बार ठंडा और गरम करके बना फौलाद तीनों ही लोहे हैं, तो भी उनमें नस्कारकी मात्रा जैसी कम-ज्यादा है, उसीके अनुसार हम उन्हें कम-अधिक नन्कृत पाते हैं। प्रतिभाशाली बालककी बुद्धि फौलादकी तरह पहनेके चिर-अभ्यासने सुसंस्कृत है। मानसिक अभ्यासका यद्यपि स्मृतिके रूपमें सर्वथा उपस्थित रहना अत्यावश्यक नहीं है, परन्तु तदनुसार न्यूनाधिक नन्कृत

तो बहुत जहरी है । इस जन्ममे भी कालेज छोड़नेके बाद, कुछ ही वर्षोंमे पाठ्य-पुस्तकोंके रटे हुए बहुतसे नियम, मूत्र भूल जाते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सारे अध्ययनका परिश्रम व्यर्थ जाता है । ताजे घडेमे कुछ दिन रखकर निकाल लिये गये घीकी भाँति, भूल जानेपर भी जो विद्याध्ययन-संस्कार मनके भीतर समा गया रहता है, वही शिक्षाका फल है । कालेज छोड़े वर्षों हो जावे, एव पढी बातोंको भूल जानेपर भी, जैसे मनुष्यकी मानसिक संस्कृति उसके पूर्वके विद्याभ्यास को प्रमाणित करती है, उसी प्रकार गैंगवमे भूलकनेवाले प्रतिभाको क्यों न पूर्वके अभ्यासका परिणाम माना जाय ? वस्तुतः आनुवशिकता और वातावरण मानसिक शक्तिके जितने अंगके कारण नहीं हैं—और ऐसे अंग काफी हैं (मेधाविता-मन्दबुद्धिता, भद्रता-नृगसता आदि कितने ही अपैतृक गुण मनुष्यमे अकसर दिखाई पड़ते हैं) उनका कारण इससे पूर्वके जीवन-प्रवाहमे ढूँढना पड़ेगा । एक तरुण बड़ी तपस्यासे अध्ययनकर जिस समय उत्तम श्रेणीमे एम० ए० पास करता है, उसी समय अपने परिश्रमका पारितोषिक पाये बिना उसका यह जीवन समाप्त हो जाता है, उसके इस परिश्रमको शरीरके साथ विनष्ट हो गया माननेको अपेक्षा क्या यह अच्छा नहीं है कि उसे प्रतिभाशाली शिषुके साथ जोड़ दिया जाय ? अप्रति माता-पिताके असाधारण गणितज्ञ, संगीतज्ञ शिशु देखे गये हैं । उक्त क्रमसे विचारनेपर हमें मालूम होता है कि हमारा इस शरीरका जीवन-प्रवाह एक सुदीर्घ जीवन-प्रवाहका छोटा-सा बीचका अंग है, जिसका पूर्वकालीन प्रवाह चिरकालसे आ रहा है, और परकालीन भी चिरकाल तक रहेगा । चिरकाल ही हम कह सकते हैं, क्योंकि अनन्तकाल कहनेपर अनन्तकालसे संचित रागिमे कुछ वर्षोंका संचित संस्कार कोई विशेष प्रभाव नहीं रख सकता, जैसे खारे समुद्रमें एक छोटी-सी मिथ्रीकी डली । जीवनमे हम प्रभाव होता देखते हैं, और व्यक्ति और समाज बेहतर बनने-की इच्छा रखकर तभी प्रयत्न कर सकते हैं, यदि जीवनकी संस्कृतिको अनन्तकालसे प्रयत्नका नहीं, बल्कि एक परिमित कालके प्रयत्नका परि-

णाम मान ले । वस्तुतः अनन्तकाल और अकाल दोनों ही भिन्न-भिन्न मानसिक सस्कृतियोंके भेदको आकस्मिक बना देते हैं । जीवन-प्रवाह इस शरीरसे पूर्वसे आ रहा है, और पीछे भी रहेगा, तो भी अनादि और अनन्त नहीं है । इसका आरम्भ तृष्णा या स्वार्थपरतासे है, और तृष्णाके क्षयके साथ इसका क्षय हो जाता है ।

जीवन-प्रवाहको इस शरीरसे पूर्व और पश्चात्काल भी माननेपर हम निकम्मे-से-निकम्मे आदमीको भी बेहतर बननेकी आशा दिला सकने हैं । किसी ऊँचे आदर्शके लिए, लोक, समाज या दूसरे व्यक्तिके उत्कर्षके लिए, तभी अपने इस जीवनका उत्सर्ग तक कर देनेवाले पुरुषोंकी पर्याप्त सख्या मिल सकती है । तभी मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कर्मोंके दायित्वको पूरी तरह समझ कर दूसरेके अपकारसे अपनेको रोकनेके लिए तैयार हो सकता है । समाजके हितके लिए व्यक्तियोंका आत्म-बलिदानके लिए तैयार रहना एव समाजके अपकार करनेमें व्यक्तियोंका आत्म-नियंत्रण ये दोनों बातें लोकको बेहतर बनानेके लिए अनिवार्यतया आवश्यक हैं । लोकोन्नति वस्तुतः इन्हीं दो बातोंपर निर्भर है । इसी शरीरकी आदिम और अन्तिम मान लेनेपर उन दोनों बातोंकेलिये आदमीको प्रेरक वस्तुका अत्यन्ताभाव यदि नहीं, तो इतना अभाव उत्पन्न हो जायगा, जिससे ऊपर बढ़नेकी गति एक जायगी, और फलतः पीछेकी ओर गिरावट आरम्भ हो जायगी ।

बुद्धकी शिक्षा और दर्शन इन चार सिद्धान्तोंपर अवलम्बित है । पहले तीनों सिद्धान्त बौद्ध धर्मको दुनियाके अन्य धर्मोंसे पृथक् करते हैं । ये तीनों सिद्धान्त भौतिकवाद और बुद्ध-धर्ममें समान हैं । किन्तु चौथी बात, अर्थात् जीवन-प्रवाहको इसी शरीरतक परिमोक्षित न मानना, इसे भौतिकवादसे पृथक् करता है, और साथ ही व्यक्तिकेलिये भविष्यतो आशामय बनानेका यह एक सुन्दर उपाय है, जिसके बिना किसी आदर्श-वादका कार्यरूपमें परिणत होना दुष्कर है ।

चारों सिद्धान्तों में पहले तीन, तीन बड़ी परतन्त्रताओंमें मनुष्यको

मुक्त कराते हैं । चौथा आशामय भविष्यका सन्देश देता है और शील सदाचारकेलिये नींव बनाता है । चारोका जिसमें एकत्र सम्मेलन है, वही बुद्ध-धर्म है ।

द्वितीय अध्याय

गौतम बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)

दो सदियों तकके भारतीय दार्शनिक दिमागोंके ज्वरदमस्त प्रयासका अन्तिम फल हमें बुद्धके दर्शन—क्षणिक अनात्मवाद—के रूपमें मिलता है। आगे हम देखेंगे कि भारतीय दर्शनधाराओंमें जिम्ने काफ़ी समय तक नई गवेषणाओंको जारी रहने दिया, वह यही धारा थी।—नागार्जुन, असग, वसुवधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति,—भारतके अप्रतिम दार्शनिक इसी धारामें पैदा हुए थे। उन्हींके ही उच्छिष्ट-भोजी पीछेके प्रायः सारे ही दूसरे भारतीय दार्शनिक दिखलाई पड़ते हैं।

१-जीवनी

सिद्धार्थ गौतमका जन्म ५६३ ई० पू०के आसपास हुआ था। उनके पिता शुद्धोदनको शाक्योंका राजा कहा जाता है, किन्तु हम जानते हैं कि शुद्धोदनके साथ-साथ भद्रिय^१ और दण्डपाणि^२को भी शाक्योंका राजा कहा गया; जिससे यही अर्थ निकलता है कि शाक्योंके प्रजातन्त्रकी गण-सत्त्वा (=सीनेट या पार्लामेंट)के सदस्योंको लिच्छविगणकी भाँति राजा कहा जाता था। सिद्धार्थकी माँ मायादेवी अपने मैके जा रही थी, उसी वक्त कपिलवस्तुसे कुछ मीलपर लुम्बिनी^३ नामक झालवनमें सिद्धार्थ पैदा हुए। उनके जन्मसे ३१८ वर्ष बाद तथा अपने राज्याभिषेकके बीसवें साल अशोकने इसी स्थानपर एक पाषाण स्तम्भ गाड़ा था, जो अब भी वहाँ

^१ चुल्लवग्ग (विनय-पिटक) ७, ("बुद्धचर्या", पृ० ६०)

^२ मज्झिमनिकाय-अट्ठकया, १।२।८

^३ वर्तमान रम्भिनदेई,

नेपाल-तराई (नीतनवा-स्टेशनसे ८ मील पश्चिम)।

मौजूद है। सिद्धार्थके जन्मके सप्ताह बाद ही उनकी माँ मर गई, और उनके पालन-पोषणका भार उनकी मौमी तथा मौतेली माँ प्रजापती गौतमीके ऊपर पड़ा। तरुण सिद्धार्थको ससारमें कुछ विरक्त तथा अधिक विचार-मग्न देख, शुद्धोदनको डर लगा कि कहीं उनका लडका भी सावुओंके बहकावेमें आकर घर न छोड़ जाये; इसकेलिए उसने पड़ोसी कोलिय गण (=प्रजातंत्र)की सुन्दरी कन्या भद्रा कापिलायनी (या यगोवरा)में विवाह कर दिया। सिद्धार्थ कुछ दिन और ठहर गये, और इस बीचमें उन्हें एक पुत्र पैदा हुआ, जिसे अपने उठते विचार-चन्द्रके ग्रसनकेलिए राहु समझ उन्होंने राहुल नाम दिया। वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित (=नन्यासी)के चार दृश्योंको देख उनकी ससारसे विरक्ति पक्की हो गई, और एक रात चुपकेमें वह घरसे निकल भागे। इसके बारेमें बुद्धने स्वयं चुनार (=सुमुमारगिरि)में वत्सराज उदयके पुत्र बोधिराज-कुमारसे कहा था^१—

“राजकुमार ! बुद्ध होनेसे पहिले....मुझे भी होता था—
‘सुखमें सुख नहीं प्राप्त हो सकता दुःखमें सुख प्राप्त हो सकता है।’
इसलिए....मैं तरुण बहृत काले केगोवाला ही, मुन्दर यौवनके साथ,
प्रथम वयसमें माता-पिताको अश्रुमुख छोड़ घरसे....प्रव्रजित हुआ।
....(पहिले) आलार कालाम(के पास)....गया।....”

आलार कालामने कुछ योगकी विधियाँ बतलाई, किन्तु सिद्धार्थकी जिज्ञासा उससे पूरी नहीं हुई। वहाँसे चलकर वह उदक रामपुत्त (=उत्तरक रामपुत्र)के पास गये, वहाँ भी योगकी कुछ बात सीख सके; किन्तु उसने भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। फिर उन्होंने बोधगयाके पास प्राय छे वर्षों तक योग और अनशनकी भीषण तपस्या की। इस तपस्याके बारेमें वह खुद कहते हैं—

“मेरा शरीर (दुर्बलता)की चरमसीमा तक पहुँच गया था। जैसे

^१ मैज्झिम-निकाय, २।४।५ (अनुवाद, पृ० ३४५) ^२ वही, पृ० ३४८

.. आसीतिक (अस्सी मालवाले)की गाँठे . वैसे ही मेरे अंग प्रत्यग हो गए थे । . जैसे ऊँटका पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया था । जैसे . . .सूत्रोंकी (ऊँची नीची) पाँती वैसे ही पीठके काँटे हो गये थे । जैसे थालकी पुरानी कड़ियाँ टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं, वैसे ही मेरी पँतु-लियाँ हो गई थी । . .जैसे गहरे कूपमें तारा, वैसे ही मेरी आँखें दिखाई देती थी । . .जैसे कच्ची तोड़ी कटवी लौकी हवा-रूपमें चुचक जाती है, मुर्झा जाती है, वैसे ही मेरे शिरकी खाल चुचक मुर्झा गई थी । . उस अनशनसे मेरे पीठके काँटे और पैरकी खाल बिलकुल सट गई थी । . यदि मैं पाखाना या पेजाव करनेकेलिए (उठता) तो वही भहराकर गिर पड़ता । जब मैं कायाको सहराते हुए, हायमें गात्रको मसलता, तो . . .कायासे सड़ी जड़वाले रोम भट पड़ने । . . . मनुष्य . . कहते—‘श्रमण गीतम काला है’ कोई कहते—‘ काला नहीं स्याम’ । . कोई . . कहते—‘ . . मगुरवर्ण है’ । मेरा वँसा परिशुद्ध, गोरा (=परि-अवदात) चमड़ेका रंग नष्ट हो गया था । .

“ . . .लेकिन . . मैंने इस (तपस्या) में उस चरम दर्शन . . .को न पाया । (तब विचार हुआ) बोधि(=ज्ञान)केलिए क्या कोई दूसरा मार्ग है ?तब मुझे हुआ—‘ . . मैंने पिता (=शुद्धोदन) श्राव्यके खेतपर जामुनकी ठड़ी छायाके नीचे बैठ . . प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहार किया था, शायद वह मार्ग बोधिका हो । : . . (किन्तु) इस प्रकारकी अत्यन्त कृग पतली कायासे वह (ध्यान-)सुख मिलना सुकर नहीं है । . फिर मैं न्यूल आहार—दाल-भात—ग्रहण करने लगा । . .उस समय मेरे पास पाँच निधु रहा करते थे । . .जब मैं स्थूल आहार . . .ग्रहण करने लगा । तो वह पाँचो भिक्षुउदासीन हो चले गये । . . ”

आगेकी जीवनयात्राके बारेमें बुद्ध अन्यत्र कहते हैं—

“मैंने एक रमणीय भूभागमें, वनखडमें एक नदी (=निरजना) को बहते देखा। उसका घाट रमणीय और श्वेत था। यही ध्यान-योग्य स्थान है, (सोच) वहाँ बैठ गया। (और)....जन्मनेके दुष्परिणामको जान....अनुपम निर्वाणको पा लिया....मेरा ज्ञान दर्शन (=साक्षात्कार) बन गया, मेरे चित्तकी भुक्ति अचल हो गई, यह अन्तिम जन्म है, फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं (होगा)।”

सिद्धार्थका यह ज्ञान दर्शन था—दुःख है, दुःखका हेतु (=समुदय), दुःखका निरोध-(=विनाश) है और दुःख-निरोधका मार्ग। ‘जो धर्म (=वस्तुएँ घटनाएँ) हैं, वह हेतुसे उत्पन्न होते हैं। उनके हेतुको, बुद्धने कहा। और उनका जो निरोध है (उसे भी), ऐसा मत रखनेवाला महाश्रमण।”^१

सिद्धार्थने उनतीस सालकी आयु (५३४ ई० पू०) में घर छोड़ा। छै वर्ष तक योग-तपस्या करनेके बाद ध्यान और चिन्तन द्वारा ३६ वर्षकी आयु (५२८ ई० पू०) में बोधि (=ज्ञान) प्राप्त कर वह बुद्ध हुए। फिर ४५ वर्ष तक उन्होंने अपने धर्म (=दर्शन) का उपदेश कर ८० वर्षकी उम्रमें ४८३ ई० पू० में कुमीनारा^२ में निर्वाण प्राप्त किया।

२-साधारण विचार

बुद्ध होनेके बाद उन्होंने सबसे पहिले अपने ज्ञानका अधिकारी उन्हीं पाँचों मिश्रुओंको समझा, जो कि अनशन त्यागनेके कारण पतित समझ उन्हें छोड़ गये थे। पता लगाकर वह उनके आश्रम ऋषि-पतन मृगदाव (सारनाथ, बनारस) पहुँचे। बुद्धका पहिला उपदेश उसी शकाको हटानेके लिए था, जिसके कारण कि अनशन तोड़ आहार आरम्भ करनेवाले गौतम-

^१ “ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तयागतो ह्यवदत् ।

तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।”

^२ कसया, जिला गोरखपुर।

को वह छोड़ आये थे । बुद्धने कहा^१—

“भिक्षुओ ! इन दो अतियो (= चरम-पथों) को . . नहीं स्वेचन करना चाहिए ।—(१) . काम-मुग्धों लिप्त होना, . . . (२) . शरीर पीडामे लगना ।—इन दोनों अतियोको छोड़ . (मैं)ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, (जो कि) प्राप्त देनेवाला, ज्ञान करानेवाला शान्ति (देने) वाला है । . वह (मध्यम-मार्ग) यही आर्य (= श्रेष्ठ) अष्टांगिक (= आठ अंगोंवाला) मार्ग है, जैसे कि—ठीक दृष्टि (= दर्शन), ठीक सकल्प, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका, ठीक प्रयत्न, ठीक स्मृति और ठीक समाधि । . .”

(१) चार आर्य-सत्य—

दु ख, दु ख-समुदय (०हेतु), दु ख निरोध, दु खनिरोधगामी मार्ग—
जिनका जिक्र अभी हम कर चुके हैं, इन्हें बुद्धने आर्य-सत्य—श्रेष्ठ मन्त्रा-
इयाँ—कहा है ।

क. दुःख-सत्यकी व्याख्या करते हुए बुद्धने कहा है—“जन्म भी दु ख है, बुढ़ापा भी दु ख है, मरण . . . शोक-रदन—मनकी विघ्नता—
हैरानगी दु ख है । अ-प्रियसे सयोग, प्रियसे वियोग भी दु ख है, इच्छा
करके जिसे नहीं पाता वह भी दु ख है । संक्षेपमे पाँचो उपादान स्कन्ध
दु ख है ।”^२

(पाँच उपादान स्कन्ध)—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—
यही पाँचो उपादान स्कन्ध है ।

(a) रूप—चारो महाभूत—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यह
रूप-उपादान स्कन्ध है ।

^१ “धर्मचक्रप्रवर्तन-सूत्र”—समुत्त-निकाय ५५।२।१ (“बुद्धचर्या”,
पृ० २३)

^२ महासत्तिपट्ठान-सुत्त (दीर्घ-निकाय, २।६)

(b) वेदना—हम वस्तुओं या उनके विचारों के सम्पर्क में आने पर जो सुख, दुःख, या न सुख-दुःख के रूप में अनुभव करते हैं, इसे ही वेदना स्कन्ध कहते हैं ।

(c) संज्ञा—वेदना के बाद हमारे मस्तिष्क पर पहिले से ही अकित संस्कारों द्वारा जो हम पहिचानते हैं—‘यह वही देवदत्त है’, इसे संज्ञा कहते हैं ।

(d) संस्कार—रूपों की वेदनाओं और संज्ञाओं का जो संस्कार मस्तिष्क पर पड़ा रहता है, और जिसकी सहायता से कि हमने पहिचाना—‘यह वही देवदत्त है’, इसे संस्कार कहते हैं ।

(e) विज्ञान—चेतना या मन को विज्ञान कहते हैं ।

ये पाँचों स्कन्ध जब व्यक्तिकी तृष्णा के विषय होकर पास आते हैं, तो इन्हें ही उपादान स्कन्ध कहते हैं । बुद्ध ने इन पाँचों उपादान-स्कन्धों को दुःख-रूप कहा है ।

ख. दुःख हेतु—दुःख का हेतु क्या है ? तृष्णा—काम (भोग) की तृष्णा, भव की तृष्णा, विभव की तृष्णा । ‘इन्द्रियों के जितने प्रिय विषय या काम हैं, उन विषयों के साथ संपर्क, उनका ख्याल, तृष्णा को पैदा करता है । “काम (=प्रिय भोग) के लिए ही राजा भी राजाओं से लड़ते हैं, क्षत्रिय भी क्षत्रियों से, ब्राह्मण भी ब्राह्मणों से, गृहपति (=वैश्य) भी गृहपतियों से, माता भी पुत्र से, पुत्र भी माता से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से. भाई भाई से, बहिन भाई से, भाई बहिन से, मित्र मित्र से लड़ते हैं । वह आपस में कलह-विग्रह-विवाद करते एक दूसरे पर हाथ से भी, दंड से भी, शस्त्र से भी आक्रमण करते हैं । वह (इससे) मर भी जाते हैं, मरण-समान दुःख को प्राप्त होते हैं ।”’

ग. दुःख-विनाश—उसी तृष्णा के अत्यन्त निरोध, परित्याग विनाश को दुःख-निरोध कहते हैं । प्रिय विषयों और तद्विषयक विचारों-विकल्पों में जब तृष्णा छूट जाती है, तभी तृष्णा का निरोध होता है ।

तृष्णाके नाश होनेपर उपादान (=विषयोंके नग्रह करने) का निरोध होता है। उपादानके निरोधसे भव (=लोक) का निरोध होता है, भव निरोधसे जन्म (=पुनर्जन्म) का निरोध होता है। जन्मके निरोधसे बुढ़ापा, मरण, शोक, रोना, दुःख, मनकी खिन्नता, हैरानगी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार दुःखोका निरोध होता है।

यही दुःखनिरोध बुद्धके सारे दर्शनका केन्द्र-बिन्दु है।

घ. दुःख-विनाशका मार्ग—दुःख निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग क्या है?—आर्य अष्टांगिक मार्ग जिन्हें पहिले गिना आए हैं। आर्य-अष्टांगिक मार्गकी आठ बातोंको ज्ञान (=प्रज्ञा), सदाचार (=शील) और योग (=समाधि) इन तीन भागों (=स्कन्धों) में बाँटनेपर वह होते हैं—

- | | |
|-----------|--|
| (क) ज्ञान | { ठीक दृष्टि
ठीक सकल्प |
| (ख) शील | { ठीक वचन
ठीक कर्म
ठीक जीविका |
| (ग) समाधि | { ठीक प्रयत्न
ठीक स्मृति
ठीक समाधि |

(क) ठीक ज्ञान—

(a) ठीक (=सम्यग्) दृष्टि—कायिक, वाचिक, मानसिक, भले बुरे कर्मोंके ठीक-ठीक ज्ञानको ठीक दृष्टि कहते हैं। भले बुरे कर्म उन प्रकार हैं—

- | | | |
|-------|--------------------|------------|
| | बुरे कर्म | भले कर्म |
| कायिक | { १ हिंसा | अ-हिंसा |
| | { २ चोरी | अ-चोरी |
| | { ३ (यौन) व्यभिचार | अ-व्यभिचार |

वाचिक	{	४. मिथ्याभाषण	अ-मिथ्याभाषण
		५. चुगली	न-चुगली
		६. कटुभाषण	अ-कटुभाषण
		७. वक्कास	न-वक्कास
मानसिक	{	८. लोभ	अ-लोभ
		९. प्रतिहिंसा	अ-प्रतिहिंसा
		१०. झूठी धारणा	न-झूठी धारणा

‘दुःख, हेतु, निरोध, मार्गका ठीकसे ज्ञान ही ठीक दृष्टि (= दर्शन) कही जाती है ।

(b) ठीक संकल्प—राग-, हिंसा-, प्रतिहिंसा-, रहित संकल्पको ही ठीक संकल्प कहते हैं ।

(ख) ठीक आचार—

(a) ठीक वचन—झूठ, चुगली, कटुभाषण और वक्काससे रहित सच्ची मीठी बातोंका बोलना ।

(b) ठीक कर्म—हिंसा-चोरी-व्यभिचार-रहित कर्म ही ठीक कर्म हैं ।

(c) ठीक जीविका—झूठी जीविका छोड़ सच्ची जीविकासे गरीर-यात्रा चलाना । उस समयके शासक-शोषक समाजद्वारा अनुमोदित सभी जीविकाओंमें सिर्फ प्राणि हिंसा संवर्धी निम्न जीविकाओंको ही बुद्धने झूठी जीविका कहा^१—

“हथियारका व्यापार; प्राणिका व्यापार, मांसका व्यापार, मद्यका व्यापार, विषका व्यापार ।”

(ग) ठीक समाधि—

(a) ठीक प्रयत्न (= व्यायाम)—इन्द्रियोपर संयम, बुरी भावनाओंको रोकने तथा अच्छी भावनाओंके उत्पादनका प्रयत्न, उत्पन्न अच्छी

^१ अंगुत्तर-निकाय, ५

भावनाओंको कायम रखनेका प्रयत्न—ये ठीक प्रयत्न हैं ।

(b) ठीक स्मृति—आया, वेदना, चित्त और मनके धर्मोंकी ठीक स्थितियों—उनके मलिन, क्षण-विध्वनी आदि होने—का नदा स्मरण रखना ।

(c) ठीक समाधि—“चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं”^१ । ठीक समाधि वह है जिससे मनके विक्लेषोंको हटाया जा सके । बुद्धकी शिक्षाओंको अत्यन्त मक्षेपमें एक पुरानी गायामे इस तरह कहा गया है—

“सारी बुराइयोंका न करना, श्रीर अच्छाइयोंका मपादन करना; अपने चित्तका मयम करना, यह बुद्धकी शिक्षा है ।”

अपनी शिक्षाका क्या मुख्य प्रयोजन है, इसे बुद्धने इस तरह बतलाया है—

“भिक्षुओ ! यह ब्रह्मचर्य (=भिक्षुका जीवन) न लाभ-नन्कार-प्रगल्भा के लिए है, न शील (=सदाचार)की प्राप्तिके लिए, न समाधि प्राप्तिके लिए, न ज्ञान=दर्शनके लिए है । जो न अटूट चित्तकी मुक्ति है, उसीके लिए

. यह ब्रह्मचर्य है, यही सार है, यही उसका अन्त है ।

बुद्धके दार्शनिक विचारोंको देनेसे पूर्व उनके जीवनके वाकी अंशको समाप्त कर देना जरूरी है ।

सारनाथमें अपने धर्मका प्रथम उपदेश कर, वही वर्षा वित्ता, वर्षाके अन्तमें स्थान छोड़ते हुए प्रथम चार मासोंमें हुए अपने साठ शिष्योंको उन्होंने इस तरह संबोधित किया—^२

“भिक्षुओ ! बहुत जनोके हितके लिए, बहुत जनोके सुखके लिए, लोकपर दया करनेके लिए, देव-मनुष्योंके प्रयोजन-हित-सुखके लिए विचरण करो । एक साथ दो मत जाओ । . . मैं भी . . . उरवेला . . . सेनानी-गाममें . . . धर्म-उपदेशके लिए जा रहा हूँ ।”

^१ म० नि०, १।५।४

^२ म० नि०, १।३।६

^३ समुत्त-नि०, ४।१।४

इसके बाद ४४ वर्ष । बुद्ध जीवित रहे । इन ४४ वर्षोंके वरसातके तीन मासोको छोड़ वह बराबर विचरते, जहाँ-तहाँ ठहरते, लोगोको अपने धर्म और दर्शनका उपदेश करते रहे ।^१ बुद्धने बुद्धत्व प्राप्तिके बादकी ४४ वर सातोको निम्न स्थानोपर बिताया था—

स्थान	ई० पू०	स्थान	ई० पू०
(लुविनी जन्म	५६३)	वीच)	५१७
(बोधगया बुद्धत्वमें	५२८)	१३. चालिय पर्वत (विहार)	५१६
१. ऋषिपत्तन (सारनाथ)	५२८	१४. श्रावस्ती (गोडा)	५१५
२-४. राजगृह	५२७-२५	१५. कपिलवस्तु	५१४
५. वैशाली	५२४	१६. आलवी (अरवल)	५१३
६. मंकुल पर्वत (विहार)	५२३	१७. राजगृह	५१२
७. . (त्रयस्त्रिंश ?)	५२२	१८. चालिय पर्वत	५११
८. सुसुमारगिरि (= चुनार)	५२१	१९. चालिय पर्वत	५१०
९. कौशाम्बी (इलाहाबाद)	५२०	२०. राजगृह	५०९
१०. पारिलेयक (मिर्जापुर)	५१९	२१-४५. श्रावस्ती	५०८-४८४
११. नाला (विहार)	५१८	४६. वैशाली	४८३
१२. वैरजा (कन्नौज-मथुराके		(कुसीनारामे निर्वाण ४८३)	

उनके विचरणका स्थान प्रायः सारे युक्त प्रान्त और सारे विहार तक सीमित था । इससे बाहर वह कभी नहीं गये ।

(२) जनतंत्रवाद—

हम देख चुके हैं, कि जहाँ बुद्ध एक ओर अत्यन्त भोग-मय जीवनके विरुद्ध थे, वहाँ दूसरी ओर वह शरीर सुखानेको भी मूर्खता समझते थे । कर्मकांड, भक्तिकी अपेक्षा उनका भुकाव ज्ञान और बुद्धिवादकी ओर

^१ बुद्धके जीवन और मुख्य-मुख्य उपदेशोंको प्राचीनतम सामग्रीके आधारपर मैंने “बुद्धचर्या” में संगृहीत किया है ।

ज्यादा था । उनके दर्शनकी विशेषताको हम अभी कहनेवाले हैं । इन सारी बातोंके कारण अपने जीवनमें और वादमें भी बुद्ध प्रतिभागानी व्यक्तियोंको आकर्षित करनेमें समर्थ हुए । मगधके मारिपुत्र, मीद-गल्यायन, महाकाश्यप ही नहीं, सुदूर उज्जैनके गजपुरोहित महाकात्यायन जैसे विद्वान् ब्राह्मण उनके शिष्य बने जिन्होंने ब्राह्मणोंके धर्म और स्वार्थके विरोधी बौद्धधर्मके प्रति ब्राह्मणोंमें कटुता फैलाने—श्वामकर प्रारम्भिक सदियोंमें—से रोका । मगधका राजा विविसार बुद्धका अनुयायी था । कोसलके राजा प्रमेनजित्को इसका बहुत अभिमान था कि बुद्ध भी कोसल क्षत्रिय हैं और वह भी कोसल क्षत्रिय । उसने बुद्धका और नजदीकी बननेकेलिए शाक्यवशकी कन्याके साथ व्याह किया था । शक्य-, मल्ल-, लिच्छवि-प्रजातन्त्रोंमें उनके अनुयायियोंकी भारी सख्या थी । बुद्धका जन्म एक प्रजातन्त्र (शाक्य)में हुआ था, और मृत्यु भी एक प्रजातन्त्र (मल्ल) हीमें हुई । प्रजातन्त्र-प्रणाली उनको कितनी प्रिय थी, यह उनीसे मालूम है, कि अजातशत्रुके साथ अच्छा संबंध होनेपर भी उन्होंने उसके विरोधी वैशालीके लिच्छवियोंकी प्रशंसा करते हुए राष्ट्रके अपराजित रखनेवाली निम्न सात बातें बतलाई—

(१) बराबर एकत्रित हो सामूहिक निर्णय करना; (२) (निर्णयके अनुसार) कर्त्तव्यको एक हो करना, (३) व्यवस्था (=कानून और विनय)का पालन करना, (४) वृद्धोंका मत्कार करना; (५) स्त्रियोंपर जवर्दस्ती नहीं करना, (६) जातीय धर्मका पालन करना, (७) धर्माचार्योंका सत्कार करना ।

इन सात बातोंमें सामूहिक निर्णय, सामूहिक कर्त्तव्य-पालन, स्त्री-स्वातन्त्र्य प्रगतिके अनुकूल विचार थे, किन्तु बाकी बानोपर जोर देना यही बतलाता है, कि वह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थामें हस्तक्षेप नहीं करना

^१ देखो, महापरिनिव्वाण-सुत्त (दी० नि०, २।३), “बुद्धचर्या”, पृष्ठ ५२०-२२

चाहते थे । वैयक्तिक तृष्णाके दुष्परिणामको उन्होंने देखा था । दुःखोंका कारण यही तृष्णा है । दुःखोंका चित्रण करते हुए उन्होंने कहा था^१—

“चिरकालसे तुमने . . . माता-पिता-पुत्र-दुहिताके मरणको सहा, भोग-रोगकी आफतोंको सहा, प्रियके वियोग, अप्रियके संयोगसे रोते क्रन्दन करते जितना आँसू तुमने गिराया, वह चारो समुद्रोंके जलसे भी ज्यादा है ।”

यहाँ उन्होंने दुःख और उसकी जड़को समाजमें न ख्याल कर व्यक्तित्वमें देखनेकी कोशिश की । भोगकी तृष्णाकेलिए राजाओं, क्षत्रियों, ब्राह्मणों, वैश्यों, सारी दुनियाको भगड़ते मरते-मारते देख भी उस तृष्णाको व्यक्तित्वसे हटानेकी कोशिश की । उनके मतानुसार मानो, काँटोंसे बँचनेकेलिए सारी पृथिवीको तो नहीं ढाँका जा सकता है, हाँ, अपने पैरोंको चमड़ेसे ढाँक कर काँटोंसे बचा जा सकता है । वह समय भी ऐसा नहीं था, कि बुद्ध जैसे प्रयोगवादी दार्शनिक, सामाजिक पापोंको सामाजिक चिकित्सासे दूर करनेकी कोशिश करते । तो भी वैयक्तिक सम्पत्तिकी बुराइयोंको वह जानते थे, इसीलिए जहाँ तक उनके अपने भिक्षु-संघका संबंध था, उन्होंने उसे हटाकर भोगमें पूर्ण साम्यवाद स्थापित करना चाहा ।

(३) दुःख-विनाश-मार्गकी त्रुटियाँ—

बुद्धका दर्शन घोर क्षणिकवादी है, किसी वस्तुको वह एक क्षणसे अधिक ठहरनेवाली नहीं मानते, किन्तु इस दृष्टिको उन्होंने समाजकी आर्थिक व्यवस्थापर लागू नहीं करना चाहा । सम्पत्तिशाली शासक-शोषक-समाजके साथ इस प्रकार शान्ति स्थापित कर लेनेपर उनके जैसे प्रतिभाशाली दार्शनिकका ऊपरके तबकेमें सम्मान बढ़ना लाजिमी था । पुरोहित-वर्गके कूटदंत, सोणदंड जैसे धनी प्रभुताशाली ब्राह्मण उनके अनुयायी बनते थे, राजा लोग उनकी आवभगतकेलिए उतावले दिखाई पड़ते थे । उस वक्तका धनकुबेर व्यापारी-वर्ग तो उससे भी

ज्यादा उनके सत्कारकेलिए अपनी थैलियाँ खोलने रहता था, जितने कि आजके भारतीय महासेठ गाँधीकेलिए। श्रावस्तीके धनकुबेर मुदत्त (अनार्थपिण्डक)ने सिक्केसे ढाँक एक भारी बाग (जैतवन) गरीदकर बुद्ध और उनके भिक्षुओंके रहनेकेलिए दिया। उसी शहरकी दूसरी मेठानी विशाखाने भारी व्ययके साथ एक दूसरा विहार (=मठ)पूर्वोराम बनवाया था। दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारतके साथ व्यापारके महान केन्द्र कौशाम्बीके तीन भारी सेठोंने तो विहार बनवानेमें होड़मी कर ली थी। सच तो यह है, कि बुद्धके धर्मको फैलानेमें राजाओंसे भी अधिक व्यापारियोंने सहायता की। यदि बुद्ध तत्कालीन आर्थिक व्यवस्थाके खिलाफ जाते तो यह सुभीता कहाँसे हो सकता था ?

३-दार्शनिक विचार

“अनित्य, दुःख, अनात्म” इस एक सूत्रमें बुद्धका सारा दर्शन आ जाता है। इनमें दुःखके बारेमें हम कह चुके हैं।

(१) क्षणिकवाद—बुद्धने तत्त्वोंको विभाजन तीन प्रकारसे किया है—(१) स्कन्ध, (२) आयतन, (३) धातु।

स्कन्ध पाँच हैं—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान। रूपमें पृथिवी आदि चारों महाभूत शामिल हैं। विज्ञान चेतना या मन है। वेदना मुख-दुःख आदिका जो अनुभव होता है उसे कहते हैं। सज्ञा होय या अभिज्ञानको कहते हैं। सस्कार मनपर बच रही छाप या वासनाको कहते हैं। इन प्रकार वेदना, सज्ञा, सस्कार—रूपके संपर्कसे विज्ञान (=मन)की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं।^१ बुद्धने इन स्कन्धोंको “अ-नित्य ससृत (=एत) =

^१ अगुत्तर-निकाय, ३।१।३४

^२ महावेदल्ल-सुत्त; म० नि०, १।५।३—“सज्ञा. वेदना . विज्ञान . यह तीनों धर्म (=पदार्थ) मिलेजुले हैं, विलग नहीं . विलग फरके इनका भेद नहीं जतलाया जा सकता।

प्रतीत्य समुत्पन्न=क्षय धर्मवाला=व्यय, धर्मवाला=... निरोध (= विनाश) धर्मवाला”^१ कहा है ।

आयतन बारह है—छै इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया या चमडा और मन) और छै उनके विषय—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्शव्य, और धर्म (=वेदना, संज्ञा, संस्कार) ।

धातु अठारह है—उपरोक्त छै इन्द्रियाँ तथा उनके छै विषय; और इन इन्द्रियो तथा विषयोके सपर्कसे होनेवाले छै विज्ञान (=चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मन-विज्ञान) ।

विश्वकी सारी वस्तुए स्कन्ध, आयतन, धातु तीनोंमेंसे किसी एक प्रक्रियामे बाँटी जा सकती है । इन्हे ही नाम और रूपमें भी विभक्त किया जाता है, जिनमें नाम विज्ञानका पर्यायवाची है । यह सभी अनित्य है—^१

“यह अटल नियम है—....रूप (महाभूत) वेदना, संज्ञा संस्कार, विज्ञान (ये) सारे संस्कार (=कृत वस्तुए) अनित्य है ।”

“रूप....वेदना....संज्ञा....संस्कार....विज्ञान (ये पाँचो स्कंध) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अविकारी नहीं है, यह लोकमें पंडितसम्मत (वात) है । मैं भी (वैसा) ही कहता हूँ । ऐसा कहने....समझानेपर भी जो नहीं समझता नहीं देखता, उस....बालक (=मूर्ख)अन्वे, वेर्माँख, अज्ञान....केलिए मैं क्या कर सकता हूँ ।”

रूप (भौतिक पदार्थ)की क्षणिकताको तो आसानीसे समझा जा सकता है । विज्ञान (=मन) उससे भी क्षणभंगुर है, इसे दर्शाते हुए बुद्ध कहते हैं—

“भिक्षुओ ! यह बल्कि बेहतर है, कि अज्ञान ..(पुरुष) इस चार महाभूतोंकी कायाको ही आत्मा (=नित्य तत्त्व) मान लें, किन्तु

^१ महानिदान-सुत्त (दी० नि०, २।१५; “बुद्धचर्या”, १३३)

^२ अंगुत्तर-निकाय, ३।१।३४

^३ संयुक्त-नि०, १६

चित्तको (वैसा मानना ठीक) नहीं। नो क्यों ? ... चारों महाभूतोंकी यह काया एक . . दो . . तीन . . चार . . पांच छै मात वर्ष तक भी मौजूद देखी जाती है; किन्तु जिसे 'चित्त' 'मन' या 'विज्ञान' कहा जाता है, वह रात और दिनमें भी (पहिलेमे) दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है।^१

बुद्धके दर्शनमें अनित्यता एक ऐसा नियम है, जिसका कोई अपवाद नहीं है।

बुद्धका अनित्यवाद भी "दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है" के कहे अनुसार किसी एक मौलिक तत्त्वका बाहरी परिवर्तनमात्र नहीं, बल्कि एकका विलकुल नाश और दूसरेका विलकुल नया उत्पाद है।—बुद्ध कार्य-कारणकी निरन्तर या अविच्छिन्न सन्ततिको नहीं मानने।

(२.) प्रतीत्य-समुत्पाद—यद्यपि कार्य-कारणको बुद्ध अविच्छिन्न सन्तति नहीं मानते, तो भी वह यह मानते हैं कि "इसके होनेपर यह होना है"^२ (एकके विनाशके बाद दूसरेकी उत्पत्ति इन्ही नियमको बुद्धने प्रतीत्य-समुत्पाद नाम दिया है)। हर एक उत्पादका कोई प्रत्यय है। प्रत्यय और हेतु (=कारण) समानार्थक शब्द मालूम होते हैं, किन्तु बुद्ध प्रत्ययमें वही अर्थ नहीं लेते, जो कि दूसरे दार्शनिकोंको हेतु या कारणमें अभिप्रेत है। 'प्रत्ययमें उत्पाद' का अर्थ है, बीतनेसे उत्पाद—यानी एकके बीन जाने नष्ट हो जानेपर दूसरेकी उत्पत्ति। बुद्धका प्रत्यय ऐसा हेतु है, जो किसी वस्तु या घटनाके उत्पन्न होनेसे पहिले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है। प्रतीत्य समुत्पाद कार्यकारण नियमको अविच्छिन्न नहीं विच्छिन्न प्रवाह^३ धनमाना है। प्रतीत्य-समुत्पादके इसी विच्छिन्न प्रवाहको लेकर आगे नागार्जुनने अपने शून्यवादको विकसित किया।

^१ सयुक्त-नि०, १२।७ ^२ "अस्मिन् नति इदं भवति।" (म० नि०, १।४।८; अनुवाद, पृ० १५५)

^३ Discontinuous continuity.

प्रतीत्य-समुत्पाद बुद्धके सारे दर्शनका आधार है, उनके दर्शनके समझनेकी यह कुजी है, यह खुद बुद्धने इस वचनसे मालूम होता है^१—

“जो प्रतीत्य समुत्पादको देखता है, वह धर्म (= बुद्धके दर्शन) को देखता है, जो धर्मको देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पादको देखता है। यह पाँच उपादान स्कंध (रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार, विज्ञान) प्रतीत्य समुत्पन्न (= विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न) है।”

प्रतीत्य-समुत्पादके नियमको मानव व्यवितमे लगाते हुए, बुद्धने इसके बारह अंग (= द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद) बतलाये हैं। पुराने उपनिषद्के दार्शनिक तथा दूसरे कितने ही आचार्य नित्य ध्रुव, अविनाशी, तत्त्वको आत्मा कहते थे। बुद्धके प्रतीत्य-समुत्पादमें आत्माके लिए कोई गुजाइश न थी। इसीलिए आत्मवादको वह महा-अविद्या कहते थे। इस बातको उन्होंने अपने एक उपदेश^२में अच्छी तरह समझाया है—

“साति केवट्टपुत्त भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (= धारणा) उत्पन्न हुई थी—मैं भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ, कि दूसरा नहीं बल्कि वही (एक) विज्ञान (= जीव) संसरण-सधावन (= आवागमन) करता रहता है।”

बुद्धने यह बात सुनी तो बुलाकर पूछा—

“क्या सचमुच साति ! तुम्हें इस प्रकारकी बुरी धारणा हुई है ?
‘हाँ, . . . दूसरा नहीं वही विज्ञान (= जीव) संसरण-सधावन करता है।’

‘साति ! वह विज्ञान क्या है ?’

‘यह जो, भन्ते ! वक्ता अनुभव करता है, जो कि वहाँ-वहाँ (जन्म लेकर) अच्छे बुरे कर्मोंके फलको अनुभव करता है।’

‘निकम्मे (= मोघपुरुष) ! तूने किसको मुझे ऐसा उपदेश करते

^१ मज्झिम-नि०, १।३।८

^२ महातण्हा-संखय-सुत्तन्त, म० नि०, १।४।८ (अनुवाद, पृ० १५१-८)

सुना ? मैंने तो मोघपुरुष ! विज्ञान (=जीव) को अनेक प्रकारसे प्रतीत्य-समुत्पन्न कहा है—प्रत्यय (=विगत) होनेके बिना विज्ञानका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता (बतलाया है) । मोघपुरुष ! तू अपनी ठीकमे न समझी बातका हमारे ऊपर लाछन लगाता है ।’ ”

फिर भिक्षुओंको संबोधित करते हुए कहा—

“ भिक्षुओ ! जिस-जिस प्रत्ययसे विज्ञान (=जीव) चेतना उत्पन्न होता है, वही उसकी सज्ञा होती है । चक्षुके निमित्तमे (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी चक्षुर्विज्ञान ही सज्ञा होती है । (इसी प्रकार) श्रोत्र-, घ्राण-, रस-, काया, मन-विज्ञान सज्ञा होती है । . . . जैसे . . . जिन जिस निमित्त (=प्रत्यय)से आग जलती है, वही-वही उसकी सज्ञा होती है, . . . काष्ठ-अग्नि . . . तृण-अग्नि . . . तुप-अग्नि . . . ’

“ . . . ‘यह (पाँच स्कन्ध) उत्पन्न है—यह अच्छी प्रकार प्रज्ञाने देखनेपर (आत्माके होनेका) सन्देह नष्ट हो जाता है न ?’

‘हाँ, भन्ते !’

‘भिक्षुओ ! ‘यह (पाँच स्कन्ध) उत्पन्न है’—इस (विषयमे) तुम सन्देह-रहित हो न ?’

‘हाँ, भन्ते !’

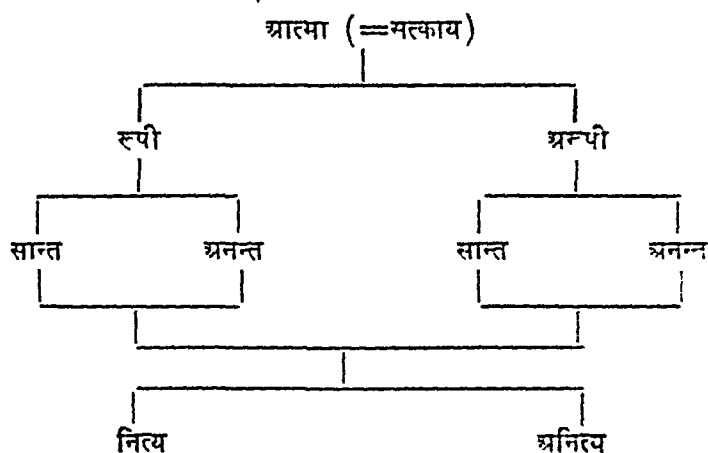
“ भिक्षुओ ! ‘यह (पाँच स्कन्ध=भौतिक तत्त्व और मन) उत्पन्न है’, . . . ‘यह अपने आहारसे उत्पन्न है’ . . . ‘यह अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होनेवाला है’—यह ठीकमे अच्छी प्रकार जानना स्पष्ट है न ?’

‘हाँ, भन्ते !’

‘भिक्षुओ ! तुम इस . . . परिशुद्ध (सु-)दृष्ट (विचार)में भी आसक्त न होना, रमण न करना, ‘मेरा धन है’—न समझना, न समझना करना । बल्कि भिक्षुओ ! मेरे उपदेस किए धर्मको देखो (=गुण)के समान समझना, (यह) पार होनेकेलिए है, पकड़ रखनेकेलिए नहीं है ।’

कूलता आदिके अनुसार) अनुरोध (=राग), विरोधमें पड़ा मुग्धमय, दुःखमय, न मुख-न दुःखमय वेदनाको अनुभव करता है, उनका अभिनन्दन करना है। (इस प्रकार) अभिनन्दन करते उसे नन्दी (=तृप्णा) उत्पन्न होती है। वेदनाओंके विषयमें जो यह नन्दी (=तृप्णा है, (यही) उसका उपादान (=ग्रहण करना या ग्रहण करनेकी उच्छा) है।'

(३) अनात्मवाद—बुद्धके पहिले उपनिषद्के ऋषियोंको हम आत्माके दर्शनका जवर्दस्त प्रचार करते देखते हैं। साथ ही उन समय चार्वाककी तरहके भौतिकवादी दार्शनिक भी थे, यह भी बतला चुके हैं। नित्यतावादियोंके आत्मा-सबधी विचारोंको बुद्धने दो भागोंमें बांटा है, 'एक वह जिसमें आत्माको रूपी (इन्द्रिय-भोचर माना जाता है) दूसरेमें उसे अ-रूपी माना गया है। फिर इन दोनों विचारवानोंमें कुछ आत्माको अनन्त मानते हैं और कुछ सान्त (=परित या अणु)। फिर ये दोनों विचारवाले नित्यवादी और अनित्यवादी दो भागोंमें बँटे हैं—



आत्मवादकेलिए बुद्धने एक दूसरा शब्द सत्काय-दृष्टि भी व्यवहृत किया है। सत्कायका अर्थ है, कायामें विद्यमान (=कायासे भिन्न अजर अमरतत्त्व)। अभी साति केवट्टपुत्तके विज्ञान (=जीव) के आवागमनकी बात करनेपर बुद्धने उसे कितना फटकारा और अपनी स्थितिको स्पष्ट किया यह बतला चुके हैं। सत्काय (=आत्मा) की धारणाको बुद्ध दर्शन-संबंधी एक भारी वन्धन (=दृष्टि-संयोजन) मानते थे, और सच्चे ज्ञानकी प्राप्तिकेलिए उसके नष्ट होनेकी सबसे ज्यादा जरूरत समझते थे। बुद्धकी शिष्या पंडिता धम्मदिस्सने अपने एक उपदेशमें^१ पाँच उपादान (=ग्रहण करनेकी इच्छासे युक्त) स्कन्धोको सत्काय बतलाया है, और आवागमनकी तृष्णाको सत्काय-दृष्टिका कारण।

बुद्ध अविद्या और तृष्णासे मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियोंकी व्याख्या करते हैं। हम लिख आये हैं, कि कैसे जर्मन दार्शनिक शोपेन्हायरने बुद्धकी इसी सर्वशक्तिमती तृष्णाका बहुत व्यापक क्षेत्रमें प्रयोग किया।

लेकिन बुद्ध सत्काय-दृष्टि या आत्मवादकी धारणाको नैसर्गिक नहीं मानते थे, इसीलिए उन्होंने कहा है—^२

“उतान (ही) सो सकनेवाले (दुधमुँहे) अबोध छोटे बच्चेको सत्काय (=आत्मवाद) का भी (पता) नहीं होता, फिर कहाँसे उसे सत्काय-दृष्टि उत्पन्न होगी ?”

—यहाँ मिलाइए भेड़ियेकी माँदसे निकाली गई लड़की कमलासे, जिसने चार वर्षमें ३० शब्द सीखे।^३

उपनिषद्के इतने परिश्रमसे स्थापित किए आत्माके महान् सिद्धान्तको प्रतीत्यसमुत्पादवादी बुद्ध कितनी तुच्छ दृष्टिसे देखते थे ?—^४

^१ चूलवेदल्ल-सुत्त, म० नि०, १।५।४ (अनुवाद, पृ० १७६)

^२ महामालुङ्क्य-सुत्त, म० नि०, २।२।४ (अनुवाद, पृ० २५४)

^३ “वैज्ञानिक भौतिकवाद।” पृष्ठ ६६-१०० ^४ मज्झिम-नि०,

१।१।२—“अयं भिक्खवे ! केवलो परिपूरो बाल-धम्मो।”

“ ‘जो यह मेरा आत्मा अनुभव कर्ता, अनुभवका विषय है, और नहीं-तहाँ (अपने) भले दूरे कर्मोंके विषयको अनुभव करता है, वह मेरा आत्मा नित्य=ध्रुव=आश्विन=अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा’—यह भिक्षुओं । केवल भरपूर बाल-धर्म (=मृग-विद्यमान) है ।”

अपने दर्शनमें अनात्मासे बुद्धको अभावात्मक वस्तु अभिप्रेत नहीं है । उपनिषद्में आत्माको ही नित्य, ध्रुव, वस्तु नित्य माना जाता था । बुद्धने उसे निम्न प्रकारसे उत्तर दिया—

(उपनिषद्)—आत्मा=नित्य, ध्रुव=वस्तुसत्

(बुद्ध)—अन्-आत्मा=अ-नित्य, अ-ध्रुव=वस्तुसत्

इसीलिए वह एक जगह कहते हैं—

“रूप अनात्मा है; वेदना अनात्मा है, मजा . मस्कार . विज्ञान . . . सारे धर्म अनात्मा हैं ।”^१

बुद्धने प्रतीत्य-समुत्पादके जिस महान् श्रीर व्यापक निदान्तका आविष्कार किया था, उसके व्यक्त करनेकेलिए उन वस्तु अभी भाषा भी तैयार नहीं हुई थी, इसलिए अपने विचारोंको प्रकट करनेके बान्ने जहाँ उन्हें प्रतीत्य-समुत्पाद, सत्काय जैसे कितने ही नये शब्द गठने पड़े, वहाँ कितने ही पुराने शब्दोंको उन्होंने अपने नये अर्थोंमें प्रयुक्त किया । उपरोक्त उद्धरणमें धर्मको उन्होंने अपने सामर्थ्यमें प्रयुक्त किया है, जो कि आजके साइसकी भाषामें वस्तुकी जगह प्रयुक्त होनेवाला घटना शब्दका पर्यायवाची है । ‘ये धर्मा हेतु-प्रभवा.’ (=जो धर्म हैं वह हेतुमें उत्पन्न हैं)—यहाँ भी धर्म विच्छिन्न-प्रवाहवाले विषयके कण-नरग अवयवोंमें बतलाता है ।

(४) अ-भौतिकवाद—आत्मवादके बुद्ध ज्वरदस्त विरोधी थे नहीं; किन्तु, इससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिए, कि वह भौतिक (=जड़)वादी थे । बुद्धके समय कोसलदेशकी मालविका नगरीमें मोहिय नामक एक दार्शन

^१ चूलसच्चक-सुत्त, म० नि०, १।४।५ (अनु०, पृ० १३८)

सामन्त रहता था । धर्मोंके वारेमे उसकी बहुत बुरी सम्मति थी^१—

ससारमे (कोई ऐसा) श्रमण (=सन्यासी) या ब्राह्मण नहीं है, जो अच्छे धर्मको . . . जानकर . . . दूसरेको समझावेगा । भला दूसरा दूसरे-केलिए क्या करेगा ? (नये नये धर्म क्या हैं), जैसे कि एक पुराने वधनको काटकर एक दूसरे नये वधनका डालना । इसी प्रकार मैं इसे पाप (=बुराई) और लोभकी बात समझता हूँ ।”

बुद्धने अपने शील-समाधि-प्रज्ञा संबंधी उपदेश द्वारा उसे समझानेकी कोशिश की थी ।

कोसलदेशमें ही एक दूसरा सामन्त—सेतव्याका स्वामी पायासी राजन्य था । उसका मत था^२—

“यह भी नहीं है, परलोक भी नहीं है, जीव मरनेके बाद (फिर) नहीं पैदा होते, और अच्छे बुरे कर्मोंका कोई भी फल नहीं होता ।”

पायासी क्यों परलोक और पुनर्जन्मको नहीं मानता था, इसकेलिए उसकी तीन दलीले थी, जिन्हें कि बुद्धके शिष्य कुमार काश्यपके सामने उसने पेश की थी—(१) किसी मरने लौटकर नहीं कहा, कि दूसरा लोक है; (२) धर्मात्मा आस्तिक—जिन्हें स्वर्ग मिलना निश्चित है—भी मरनेसे अनिच्छुक होते हैं; (३) जीवके निकल जानेसे मृत शरीरका न वजन कम होता है; और सावधानीसे मारनेपर भी जीवको कहींसे निकलते नहीं देखा जाता ।

बुद्ध समझते थे, कि भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधिका भी वैसा ही विरोधी है, जैसा कि वह आत्मवादका विरोधी है । इसीलिए उन्होंने कहा^३—

“‘वही जीव है वही शरीर है’, (दोनों एक हैं) ऐसा मत होनेपर

^१ दीघ-निकाय, १।१२ (अनुवाद, पृ० ८२)

^२ दीघ-नि०, २।१० (अनु०, पृ० १६६)

^३ अंगुत्तर-नि०, ३

ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता । 'जीव दूसरा है शरीर दूसरा है' ऐसा मन (=दृष्टि) होनेपर भी ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता ।"

आदमी ब्रह्मचर्यवास (=साधुका जीवन) तब करता है, जब कि उन जीवनके बाद भी उसे फल पाने या काम पूरा करनेका अवसर मिलनेवाला हो । भौतिकवादीके वास्ते इसीलिए ब्रह्मचर्यवान व्यर्थ है । शरीर और जीवको भिन्न-भिन्न माननेवाले आत्मवादीकेलिए भी ब्रह्मचर्यवान व्यर्थ है; क्योंकि नित्य-ध्रुव आत्मामे ब्रह्मचर्य द्वारा मगोधन सवर्द्धनकी गुजाइश नहीं । इस तरह बुद्धने अपनेको अभौतिकवादी अनात्मवादीकी स्थितिमें रक्खा ।

(५) अनीश्वरवाद—बुद्धके दर्शनका जो रूप—अनित्य, अनात्म, प्रतीत्य-समुत्पाद—हम देख चुके हैं, उसमें ईश्वर या ब्रह्मकी भी उन्नी तरह गुजाइश नहीं है जैसे कि आत्माकी । यह मंच है कि बुद्धने ईश्वर-वादपर उतने ही अधिक व्याख्यान नहीं दिये हैं, जितने कि अनात्मवादपर । इससे कुछ भारतीय—साधारण ही नहीं लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी दृष्टिको प्रोफेसर—भी यह कहते हैं, कि बुद्धने चुप रहकर इस तरहके बहुतने उपनिषद्के सिद्धान्तोंकी पूर्ण स्वीकृति दे दी है ।

ईश्वरका ख्याल जहाँ आता है, उससे विश्वके नष्टा, भर्ता, हर्ता एक नित्यचेतन व्यक्तिका अर्थ लिया जाता है । बुद्धके प्रतीत्य-समुत्पादमे ऐसे ईश्वरकी गुजाइश तभी हो सकती है, जब कि नारे "धर्मों"की भाँति वह भी प्रतीत्य-समुत्पन्न हो । प्रतीत्य-समुत्पन्न होनेपर वह ईश्वर ही नहीं रहेगा । उपनिषद्में हम विश्वका एक कर्त्ता पाते हैं—

"प्रजापतिने प्रजाकी इच्छासे तप किया । . . . उनने तप करके जोटे पैदा किये ।"

"ब्रह्म . . . ने कामना की । . . . तप करके उसने इन सब (= विश्व)को पैदा किया । . . ."

“आत्मा ही पहिले अकेला था । . . . उसने चाहा—‘लोकोको सिरजूं ।’ उसने इन लोकोको सिरजा ।”

अब इस सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, आत्मा, ईश्वर, सत् . . . की बुद्ध क्या गति बनाते हैं, इसे सुन लीजिए । मल्लोके एक प्रजातन्त्रकी राजधानी अनूपिया^१ में बुद्ध भार्गव-गोत्र परिव्राजकसे इस बातपर वार्तालाप कर रहे हैं ।—

“भार्गव ! जो श्रमण-ब्राह्मण, ईश्वर (=इस्सर) या ब्रह्माके कर्त्तापनके मत (=आचार्यक)को श्रेष्ठ बतलाते हैं, उनके पास जाकर मैं यह पूछता हूँ—‘क्या सचमुच आपलोग ईश्वर . . . के कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते हैं’? मेरे ऐसा पूछनेपर वे ‘हाँ’ कहते हैं । उनसे मैं (फिर) पूछता हूँ—‘आपलोग कैसे ईश्वर या ब्रह्माके कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते हैं?’ मेरे ऐसा पूछनेपर . . . वे मुझसे ही पूछने लगते हैं । . . . मैं उनको उत्तर देता हूँ—‘. . . बहुत दिनोंके बीतनेपर . . . इस लोकका प्रलय होता है । . . . (फिर) बहुत काल बीतनेपर इस लोककी उत्पत्ति होती है । उत्पत्ति होनेपर गूँथ ब्रह्म-विमान (=ब्रह्माका उड़ता फिरता घर) प्रकट होता है । तब (आभास्वर देवलोकका) कोई प्राणी आयुके क्षीण होनेसे या पुण्यके क्षीण होनेसे . . . उस शून्य ब्रह्म-विमानमें उत्पन्न होता है । . . . वह वहाँ बहुत दिनों तक रहता है । बहुत दिनों तक अकेला रहनेके कारण उसका जी ऊब जाता है, और उसे भय मालूम होने लगता है ।’—‘अहो दूसरे प्राणी भी यहाँ आवें ।’ . . .

^१ ऐतरेय, १।१ छपरा जिलामें कहीं पर, अनोमा नदीके पास था ।

^२ पाथिकसुत्त, दी -नि०, ३।१ (अनुवाद, पृ० २२३)

^३ बुद्धका यहाँ ब्रह्माके अकेले डरनेसे बृहदारण्यकके इस वाक्य (१।४।१-२)की ओर इशारा है ।—“आत्मा ही पहले था । . . . उसने नजर दीड़ाकर अपनेसे दूसरेको नहीं देखा । . . . वह भय खाने लगा । इसीलिए (आदमी) अकेला भय खाता है । . . . उसने दूसरे (के होने)की इच्छा की . . . ।”

दूसरे प्राणी भी आयुके क्षय होनेसे शून्य ब्रह्म-विमानमें उत्पन्न होते हैं । जो प्राणी वहाँ पहिले उत्पन्न होता है, उनके मनमें होता है— 'मैं ब्रह्मा, महा ब्रह्मा, विजेता, अ-विजित, सर्वज्ञ, यगज्जनी, ईश्वर, यन्ता निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी और भूत तथा भविष्यके प्राणियोंका पिता हूँ । मैंने ही इन प्राणियोंको उत्पन्न किया है । . . (श्लोकि) मेरे ही मनमें यह पहिले हुआ था—'दूसरे भी प्राणी यहाँ आवें ।' अतः मेरे ही मनमें उत्पन्न होकर ये प्राणी यहाँ आये हैं । और जो प्राणी पीछे उत्पन्न हुए, उनके मनमें भी उत्पन्न होता है 'यह ब्रह्मा . . . ईश्वर . . . कर्ता . . . है । . . . सो क्यों ? (इसलिए कि) हम लोगोंने इनको पहिलेहीने यहाँ विद्यमान पाया, हम लोग (तो) पीछे उत्पन्न हुए ।' . . . दूसरा प्राणी जब उस (देव-)कायाको छोड़कर इस (लोक)में आते हैं । . . (जब इनमेंसे कोई) समाधिको प्राप्तकर उसमें पूर्वजन्मका स्मरण करना है, उसके आगे नहीं स्मरण करना है । वह कहता है—'जो वह ब्रह्मा ईश्वर . . . कर्ता . . . है, वह नित्य=ध्रुव है, नाश्वत, निर्दिष्ट और सदाकेलिए वैसा ही रहनेवाला है । और जो हम लोग उन ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये गये हैं (वह) अनित्य, अ-ध्रुव, अन्त्यायु, मरणशील हैं ।' इन प्रकार (ही तो) आप लोग ईश्वरका कर्त्तापिन . . . बतलाते हैं ? वह कहते हैं—' जैसा आयुष्मान गीतम बतलाते हैं, वैसा ही हम लोगोंने (भी) सुना है ।'

उस वक्तकी—परंपरा, चमत्कार, नन्दकी अवसरगदी प्रमाणमें ईश्वरका यह एक ऐसा बेहतरीन सङ्ग था, जिनमें एक बड़ा चारीक मञ्जर भी शामिल है ।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा (= ईश्वर) का बुढ़ने एक जगत्कार और नूतन परिहास किया है ।^१—

. बहुत पहिले एक भिक्षुके मनमें यह प्रश्न हुआ—'ये चार

^१ कैवट्टसुत्त (दीघ-निकाय, १।११; अनुवाद, पृ० ७६-८०)

महाभूत—पृथिवी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु—कहाँ जाकर विलकुल निरुद्ध हो जाते हैं ?' उसने . . . चातुर्महाराजिक देवताओं (के पास) जाकर . . . (पूछा) . . . । चातुर्महाराजिक देवताओंने उस भिक्षुसे कहा—' . . . हम भी नहीं जानते . . . हमसे बढ़कर चार महाराजा^१ हैं । वे शायद इसे जानते हों . . ।'

" . . . 'हमसे भी बढ़कर त्रार्योस्त्रिंश . . याम . . . सुयाम . . . तुपित (देवगण) . . . सतुपितदेवपुत्र . . . निर्माणरति (देवगण) . . . सुनिर्मित (देवपुत्र) . . . परनिर्मितवशवर्त्ती (देवगण) . . . वशवर्त्ती नामक देवपुत्र . . . ब्रह्माकायिक नामक देवता हैं, वह शायद इसे जानते हों । . . . ब्रह्माकायिक देवताओंने उस भिक्षुसे कहा—'हमसे भी बहुत बड़ चढकर ब्रह्मा हैं, . . . वह . . . ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता . . . और सभी पैदा हुए और होनेवालोंके पिता हैं, शायद वह जानते हों ।' . . . (भिक्षुके पूछनेपर उन्होंने कहा—) 'हम नहीं जानते कि ब्रह्मा (= ईश्वर) कहाँ रहते हैं ।' . . . इसके बाद शीघ्रही महाब्रह्मा (= महान् ईश्वर) भी प्रकट हुआ । . . . (भिक्षुने) महाब्रह्मासे पूछा—' . . . ये चार महाभूत . . . कहाँ जाकर विलकुल निरुद्ध (= विलुप्त) हो जाते हैं ?' . . . महाब्रह्माने कहा—' . . . मैं ब्रह्मा . . . ईश्वर . . . पिता हूँ ।' . . . दूसरी बार भी . . . महाब्रह्मासे पूछा—' . . . मैं तुमसे यह नहीं पूछता, कि तुम ब्रह्मा . . . ईश्वर . . . पिता . . . हों । . . . मैं तो तुमसे यह पूछता हूँ—ये चार महाभूत . . . कहाँ . . . विलकुल निरुद्ध हो जाते हैं ?' . . . तीसरी बार भी . . . पूछा—तब महाब्रह्माने उस भिक्षुकी वाँह पकड़, (देवताओंकी सभासे) एक ओर ले जाकर . . . कहा—'हे भिक्षु, ये देवता . . . मुझे ऐसा समझते हैं कि . . . (मेरे लिए) कुछ अज्ञात . . . अदृष्ट नहीं है . . . इसीलिए मैंने उन लोगोंके सामने नहीं बतलाया । भिक्षु ! मैं भी नहीं जानता . . . यह तुम्हारा

^१ धृतराष्ट्र, विरुडक, विरूपाक्ष, वैश्रवण (= कुवेर)

ही दोष है .. कि तुम. . (बुद्ध)को छोड़ बाह्यमें उस वननी खोज करते हो ।... उन्हींके... पाम जाओ, . जैसा .. (वह) कहे, वैसा ही ममझो ।' ”

रमरण रखना चाहिए कि आज हिन्दूधर्ममें ईश्वरमें जो अर्थ लिया जाता है, वही अर्थ उस समय ब्रह्मा शब्द देना था । अभी मिव और विष्णुको ब्रह्ममें ऊपर नहीं उठाया गया था । बुद्धजी उन परिहानपूर्ण कहानीका मजा तब आयेगा, यदि आप यहाँ ब्रह्माकी जगह अन्नान या भगवान्, बुद्धकी जगह माक्स और निक्षुकी जगह किमी नात्रान्णमें माक्स-अनुयायीको रखकर इसे दुहरायें । हजारों अ-विश्वमनीय चीजोंपर विश्वास करनेवाले अपने समयके अन्ध श्रद्धानुओंको बुद्ध बनाना चाहते थे, कि तुम्हारा ईश्वर नित्य, ध्रुव वर्गह नहीं है, न वह नृष्टिको बनाना विगाडता है, वह भी दूसरे प्राणियोंकी भाँति जन्मने-मरनेवाला है । वह ऐसे अनगिनत देवताओंमें सिर्फ एक देवतामात्र है । बुद्धके ईश्वर (= ब्रह्मा) के पीछे “लाठी” लेकर पड़नेका एक और उदाहरण नीजिए । अबके दुद्ध स्वयं जाकर “ईश्वर”को फटकारते हैं—

“एक समय .. वक ब्रह्माको ऐसी बुरी धारणा हुई थी—‘वह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, जुद्ध, अ-च्युत, अज, अजर, अमर है न च्युत होता है, न उपजता है । इसमें आगे दूसरा निम्नरण (पड़नेका स्थान) नहीं है ।’ . तब मैं ब्रह्मलोकमें प्रवृत्त हुआ । वक ब्रह्माने दूसरे ही मुझे आते देखा । देखकर मुझमें कहा—‘आओ मार्प ! (मित्र !) स्वागत मार्प ! चिरकालके बाद मार्प ! (आपका) यहाँ आना हुआ । मार्प ! यह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अजर अमर ... है . ।’ , ऐसा कहनेपर मैंने कहा—‘अविद्यामें पा

^१ ब्रह्मनिमन्तिक-मुत्त (म० नि०, १।५।६; अनुवाद०, पृ० १६४-५)

^२ याज्ञवल्क्यने मार्गीको ब्रह्मलोकसे आगेके प्रश्नको शिर गिरनेवा डर दिखलाकर रोक दिया था । (बृहदारण्यक ३।६)

है, अहो ! वक ब्रह्मा, अविद्यामें पडा है, अहो ! वक ब्रह्मा, जो कि अनित्यको नित्य कहता है, अशाश्वतको शाश्वत ' ऐसा कहने पर वक ब्रह्माने . . . कहा—'मार्प ! मैं नित्यको ही नित्य कहता हूँ ' मैंने कहा— ' ब्रह्मा ! . . . (दूसरे लोकसे) च्युत होकर तू यहाँ उत्पन्न हुआ ।' . . . ।"

ब्राह्मण अन्वेषके पीछे चलनेवाले अन्वेषकी भाँति बिना जाने देखे ईश्वर (ब्रह्मा) और उसके लोकपर विश्वास रखते हैं, इस भावको सम-भाते हुए एक जगह और बुद्धने कहा है^१—

वाशिष्ट ब्राह्मणने बुद्धसे कहा—'हे गौतम ! मार्ग-अमार्गके संबन्धमें ऐतरेय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण छन्दावा ब्राह्मण, नाना मार्ग बतलाते हैं, तो भी वह ब्रह्माकी सलोकताको पहुँचाते हैं । जैसे ग्राम या कस्बेके पास बहुतसे, नाना मार्ग होते हैं, तो भी वे सभी ग्राममें ही जानेवाले होते हैं ।'

'वाशिष्ट ! . . . त्रैविद्य ब्राह्मणोंमें एक ब्राह्मण भी नहीं, जिसने ब्रह्माको अपनी आँखसे देखा हो एक आचार्य एक आचार्य-प्राचार्य . . . सातवी पीढ़ी तकका आचार्य भी नहीं । . . . ब्राह्मणोंके पूर्वज, ऋषि^२ मन्त्रोंके कर्त्ता, मन्त्रोंके प्रवक्ता . . अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वा-मित्र, यमदग्नि, अगिरा, भरद्वाज, वशिष्ट, कश्यप, भृगु—में क्या कोई है,

^१ तेविज्ज-सुत्त (दी० नि० १।१३, अनुवाद, पृ० ८७-९)

^२ ऋग्वेदके ऋषियोंमें वामकका नाम नहीं है, अगिराका भी अपना मंत्र नहीं है, किन्तु अगिराके गोत्रियोके ५७से ऊपर सूक्त है । (ऋक् १।३५।३६; द्वा१५; द्वा५७-५८, ६४, ७४, ७६, ७८-७९, ८१-८५, ८७, ८८; ९।४, ३०, ३५-३६, ३९-४०, ४४-४६, ५०-५२, ६१, ६७, (२२-३२), ६९, ७२, ७३, ८३, ९४, ९७, (४५-५८), १०८ (८-११), ११२; १०।४२-४४, ४७, ६७-६८, ७१, ७२, ८२, १०७, १२८, १६४, १७२-७४ वाकी आठ ऋषियोंके बनाए ऋग्-मंत्र इस प्रकार हैं—

....जिसने ब्रह्माको अपनी आँवोंमें देखा हो।... 'जिनको न जानते हैं, न देखते हैं उसकी मलोकताकेलिए मार्ग उपदेश करने हैं।'वाशिष्ठ ! (यह तो वैसे ही हुआ), जैसे अन्वोकी पति एक

	नूतन संख्या	पता
१. अष्टक (विश्वामित्र-पुत्र)	१	१।१०४
२. वामक	०	
३. वामदेव (बृहदुक्त, मूर्धन्या, अहोमुचके पिता)	५५	४।१-४१, ४५-५८
४. विश्वामित्र (कुशिक-पुत्र)	४६	३।१-१२, २४, २६, २७-३०, ३२-५३, ५७-६२; ९।६७ (१३-१५); ९।१०१ (१३-१६)
५. जमदग्नि (भागव)	४	८।६०; ९।६२, ६४, ६७ (१६-१८)
६. अंगिरा	०	०
७. भरद्वाज (बृहस्पति-पुत्र)	६०	६।१-१४, १६-३२, ३७-४३, ५३-७४; ९।६७ (१-३)
८. वशिष्ठ (मित्रावरुण-पुत्र)	१०५	७।१-१०४; ९।६७ (१६-२१), ६०, ६७ (१-३)
९. कश्यप (मरीचि-पुत्र)	७	१।६६; ९।६४, ६७ (४-६), ६१-६३, ११३-१४
१०. भृगु (वरुण-पुत्र)	१	९।६५

दूसरेसे जुड़ी हो, पहिलेवाला भी नहीं देखता, बीचवाला भी नहीं देखता, पीछेवाला भी नहीं देखता । ”

(६) दश अकथनीय—बुद्धने कुछ बातोंको अकथनीय (= अव्याकृत) कहा है, कितने ही बौद्धिक वेईमानीकेलिए उताह भारतीय लेखक उसीका सहारा लेकर यह कहना चाहते हैं, कि बुद्ध ईश्वर, आत्माके बारेमें चुप थे । इसलिए चुप्पीका मतलब यह नहीं लेना चाहिए, कि बुद्ध उनके अस्तित्वसे इन्कार करते हैं । लेकिन वह इस बातको छिपाना चाहते हैं, कि बुद्धकी अव्याकृत बातोंकी सूची खुली हुई नहीं है, कि उसमें जितनी चाहें उतनी बातें आप दर्ज करते जायें । बुद्धके अव्याकृतोंकी सूचीमें सिर्फ दस बातें हैं, जो लोक (= दुनिया), जीव-शरीरके भेद-अभेद तथा मुक्त-पुरुषकी गतिके बारेमें हैं^१—

क. लोक	१. क्या लोक नित्य है ? २. क्या लोक अनित्य है ? ३. क्या लोक अन्तवान् है ? ४. क्या लोक अनन्त है ?	$\left\{ \begin{array}{l} \text{अ-कथनीय, चुप} \\ \text{अ-व्याकृत} \end{array} \right.$
ख. जीव-शरीरकी एकता	५. क्या जीव और शरीर एक है ? ६. क्या जीव दूसरा शरीर दूसरा है ?	
ग. निर्वाणके बाद-की अवस्था	७. क्या मरनेके बाद तथागत (-मुक्त) होते हैं ? ८. क्या मरनेके बाद तथागत नहीं होते ? ९. क्या मरनेके बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते हैं ? १०. क्या मरनेके बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं ?	

मालुंक्यपुत्तने बुद्धसे इन दश अव्याकृत बातोंके बारेमें प्रश्न किया था ।^१—

“यदि भगवान् (इन्हे) जानते हैं,....तो बतलायें, नही जानते हों, ...तो न जानने-समझनेवालेकेलिए यही नीधी (वात) है, कि वह (साफ कह दे) — मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मानूम ।... ”

बुद्धने इसका उत्तर देते हुए कहा—

“...मैंने इन्हे अव्याकृत (इसलिए)... (कहा) है; (नगोकि)यह (=इनके बारेमें कहना) मार्त्यक नहीं, भिक्षु-चर्या (=यादि ब्रह्मचर्य)केलिए उपयोगी नहीं (और) न यह निर्वेद=वैराग्य, निर्गोध=शान्ति....परम-ज्ञान, निर्वाणकेलिए (आवश्यक) है; उन्हीनिम्न मैंने उन्हें अव्याकृत किया ।”

(सर राधाकृष्णन्की लीपापोती—) बुद्धके द्वांनमें उन प्रकार ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म—किसी भी नित्य ध्रुव पदार्थकी गुजाऊय न रहनेपर भी, उपनिषद् और ब्राह्मणके तत्त्वज्ञान—मत्-चिद्-आनन्द—ने विनकुन उल्टे तत्त्वों अ-सत् (=अनित्य, प्रतीत्य समुत्पन्न)-अ-चित् (=अनात्म)-अन्-आनन्द (=दुःख)—अनित्य-दुःख-अनात्म—की घोषणा करनेपर भी यदि सर राधाकृष्णन् जैसे हिन्दू लेखक गैरजिम्मेवारीके भाग निम्न वाक्योंको लिखनेकी धृष्टता करते हैं, तो इन्हे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें “धिग् व्यापक तम ” ही कहना पड़ेगा ।—

(क) “उस (=बुद्ध)ने ध्यान और प्रार्थना(के सन्ते)को पता ।”
किसकी प्रार्थना ?

(ख) “बुद्धका मत था कि सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही धार्मिक है, और चीजे नहीं ।”^१

आपने ‘सारे धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न हैं’, इनकी सत्य व्याख्या की ?

(ग) “बुद्धने जो ब्रह्मके बारेमें साफ हां या नहीं कहा, उसे “गिन्सी तरह भी परम सत्ता (=ब्रह्म)से उन्कारके अर्थमें नहीं गिरा जा सकता ।

यह समझना असम्भव है, कि बुद्धने दुनियाके इस बहावमे किसी वस्तुको ध्रुव (=नित्य) नहीं स्वीकार किया; सारे विश्वमे हो रही अ-शान्तिमे (उन्होंने) कोई ऐसा विश्राम-स्थान नहीं (माना), जहाँ कि मनुष्यका अशान्त हृदय शान्ति पा सके ।”

इसकेलिए सर राधाकृष्णन्ने बौद्ध निर्वाणको ‘परमसत्ता’ मनवाने-की चेष्टा की है, किन्तु बौद्ध निर्वाणको अभावात्मक छोड़ भावात्मक वस्तु माना ही नहीं जा सकता । बुद्ध जब शान्तिके प्राप्तिकर्त्ता आत्माको भारी मूर्खता (=बालधर्म) मानते हैं, तो उसके विश्रामकेलिए शान्तिका ठाँव राधाकृष्णन् ही ढूँढ सकते हैं ! फिर आपने तो इस वचनको वही उद्धृत भी किया है—“यह निरन्तरे प्रवाह या घटना है, जिसमे कुछ भी नित्य नहीं । यहाँ (=विश्वमे) कोई चीज नित्य (=स्थिर) नहीं—न नाम (=विज्ञान) ही और न रूप (=भौतिकतत्त्व) ही ।”

(घ) “आत्माके बारेमे बुद्धके चुप रहनेका दूसरा ही कारण था”
....^१बुद्ध उपनिषद्मे वर्णित आत्माके बारेमें चुप है—वह न उसे स्वीकार ही करते हैं, न इन्कार ही ।”

नही जनाव ! बुद्धके दर्शनका नाम ही अनात्मवाद है । उपनिषद्के नित्य, ध्रुव आत्माके साथ यहाँ ‘अन्’ लगाया गया है । “अनित्य दुःख अनात्म”की घोषणा करनेवालेकेलिए आपके ये उद्गार सिर्फ यही साबित करते हैं, कि आप दर्शनके इतिहास लिखनेकेलिए बिल्कुल अयोग्य हैं ।

आगे यह और दुहराते हैं—

‘विना इस अन्तर्हित तत्त्वके जीवनकी व्याख्या नहीं की जा सकती । इसीलिए बुद्ध बराबर आत्माकी सत्यताके निषेधसे इन्कार करते थे ।”

^१ वही, पृष्ठ ३७६ ^२ It is a Perpetual Process with nothing permanent. Nothing here is permanent, neither name nor form—महावग्ग (विनय-पिटक) VI.35. ff.

^३ वही, पृष्ठ ३८५

^४ वही, पृष्ठ ३८७

^५ वही, पृष्ठ ३८६

इसे कहते हैं—“मुखमस्तीति वक्तव्य दशहस्ता हरीनकी ।” और बुद्धके सामने जानेपर राधाकृष्णन्की क्या गति होती, उन्केलिए मानुष्य-पुत्तकी घटनाको पटिए ।^१

(ड) मिलिन्द-प्रश्नके रचयिता नागसेन (१५० ई० पू०)ने बुद्धके दर्शनकी व्याख्या जिस सरलताके साथ यवनराजा मिनान्दरके नामने की, उसके बारेमें सर राधाकृष्णन्का कहना है—

“नागसेनने बौद्ध (=बुद्धके) विचारको उनकी पैतृक भाषा (=उपनिषद्?) से तोड़कर शुद्ध बौद्धिक (=बुद्धिमत्) क्षेत्रमें रोंप दिया ।”^२

और—

“बुद्धका लक्ष्य (=मिशन) था, कि उपनिषद्के श्रेष्ठ विज्ञानवाद (Idealism) को स्वीकार कर उसे मानव जातिके दिन-प्रतिदिनकी आवश्यकताकेलिए मुनभ बनाये । ऐतिहासिक बौद्ध धर्मज्ञ अरं हैं, उपनिषद्के सिद्धान्तका जनतामें प्रचार ।”^३

स्वयं बुद्ध उनके समकालीन शिष्य, नागसेन (१५० ई० पू०), नागा-जुन (१७५ ई०), अमग (३७५ ई०), वसुवधु (४०० ई०), दिग्नाग (४२५ ई०), धर्मकीर्ति (६००), धर्मांतर, आन्तरदिन (८५० ई०), ज्ञानश्री, शाक्यश्रीभद्र (१२०० ई०) जिन ग्रन्थों में न ज्ञान पाये वे, उसे खोज निकालनेका श्रेय सर राधाकृष्णन्को है, जिन्होंने अनात्मवादों बुद्धको उपनिषद्के आत्मवादका प्रचारक निद्र कर दिया । २५०० वर्षों तथा भारत, लका, यर्मा, स्वाम, चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत, मध्य-एशिया, अफगानिस्तान और दूसरे देशों तक फैले भूभागपर कितना भारी भ्रम फैला हुआ था जो कि वह बुद्धको अनात्मवादों अनी-श्वरवादी समझते रहे । और अधपाद, वादराज, वात्स्यायन, उग्रोत्तर, कुमारिका, वाचस्पति, उदयन जैसे महापण्डितों भी बुद्धके ज्ञानको जिन तरहका समझा वह भी उनकी भारी “अविद्या” थी ।

^१ वही, पृष्ठ २८६

^२ वही, पृष्ठ ३६०

^३ वही, पृष्ठ ४०१

(७) विचार-स्वातंत्र्य—प्रतीत्य-समुत्पादके आविष्कृतिके लिए विचार-स्वातंत्र्य स्वाभाविक चीज थी। बौद्ध दार्शनिकोंने अपने प्रवर्तकके आदेशके अनुसार ही प्रत्यक्ष और अनुमान दोके अतिरिक्त तीसरे प्रमाण-को माननेसे इन्कार कर दिया। बुद्धने विचार-स्वातंत्र्यको अपने ही उपदेशोंसे इस प्रकार शुरू किया था^१—

“भिक्षुओ ! मैं वेड़े (=कुल्ल) की भूँति पार जानेकेलिए तुम्हें धर्मका उपदेश करता हूँ, पकड़ रखनेकेलिए नहीं। . . . जैसे भिक्षुओ ! पुरुष ऐसे महान् जल-अर्णवको प्राप्त हो, जिसका उरला तीर खतरे और भयसे पूर्ण हो और परला तीर क्षेमयुक्त तथा भयरहित हो। वहाँ न पार ले जानेवाली नाव हो, न इधरसे उधर जानेकेलिए पुल हो। तब वह तृण-काष्ठ-पत्र जमाकर वेड़ा बाँधे और उस वेड़ेके सहारे हाथ और पैरसे मेहनत करते स्वस्तिपूर्वक पार उतर जाये। उतर जानेपर उसके (मनमें) हो—‘यह वेड़ा मेरा बड़ा उपकारी हुआ है, इसके सहारे मैं पार उतर सका, क्यों न मैं ऐसे वेड़ेको गिरपर रख कर, या कन्धेपर उठाकर ले चलूँ।’ तो क्या ऐसा करने-वाला पुरुष उस वेड़ेके प्रति (अपना) कर्तव्य पालन करनेवाला होगा ?’ नहीं । ‘भिक्षुओ ! वह पुरुष उस वेड़ेमें दुःख उठानेवाला होगा।’”

एक बार बुद्धसे केशपुत्र ग्रामके कालामोने नाना मतवादोंके मच-भूठमे सन्देह प्रकट करते हुए पूछा था^२—

“भन्ते ! कोई-कोई श्रमण (=साधु) ब्राह्मण केशपुत्रमें आते हैं, अपने ही वाद (=मत)को प्रकाशित . . . करते हैं, दूसरेके वादपर नाराज होते हैं, निन्दा करते हैं। . . . हमारे भी . . . अपने ही वादको प्रकाशित . . . करते हमारेके वादपर नाराज होते हैं।

^१ म० नि०, १।३।२ (अनुवाद, पृष्ठ ८६-८७)

^२ अंगूत्तर-निकाय, ३।७।५

तब....हमे मन्देह. होता है—कौन इन ...में सच कहता है, कौन झूठ ?'

"कालामो ! तुम्हारा मन्देह....ठीक है, मन्देहके त्यागमें ही तुम्हें सन्देह उत्पन्न हुआ है। कालामो ! मत तुम श्रुत(=गुने वचनो, वेदो)के कारण (किसी बातको मानो), मत तर्कके कारणमें, मत नय-हेतुमें, मत (वक्ताके) आकारके विचारमें, मत अपने चिर-विचारित मनके अनुकूल होनेसे, मत (वक्ताके) भव्यरूप होनेमें, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' से। जब कालामो ! तुम खुद ही जानो कि ये धर्म(=काम या बात) अच्छे, अदोष, विज्ञोमें अनिन्दित हैं यह लेने, ग्रहण करनेपर हित, सुखके लिए होते हैं, तो कालामो ! तुम उन्हें स्वीकार करो।"

(८) सर्वज्ञता गलत—बुद्धके समकालीन वर्धमानको सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहा जाता था, जिसका प्रभाव पीछे बुद्धके अनुयायियोंपर भी पड़े बिना नहीं रहा। तो भी बुद्ध स्वयं सर्वज्ञताके ख्यालके विरुद्ध थे।

वत्सगोत्रने पूछा—“मुना है भन्ते ! 'श्रमण गीतम सर्वज्ञ सर्वदर्शी है ..'—(क्या ऐसा कहनेवाले) . यथार्थ कहनेवाले हैं ? भगवान्की असत्य . ने निन्दा तो नहीं करते ?”

“वत्स ! जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं ., वह मेरे बारेमें यथार्थ कहनेवाले नहीं हैं। वह असत्यसे . मेरी निन्दा करते हैं।”

और अन्यत्र—

“ऐसा श्रमण ब्राह्मण नहीं है जो एक ही बार सब जानेगा, सब देगा (सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगा)।”

(९) निर्वाण—निर्वाणका अर्थ है बुझना—दीप या आगका जलने-जलते बुझ जाना। प्रतीत्यसमुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाह रूपमें उत्पन्न) नाम-रूप (=विज्ञान और भौतिकतत्त्व) तृष्णाके गारेमें निमग्न जो एक जीवन-प्रवाहका रूप धारण कर प्रवाहित हो रहे हैं, उन प्रवाहों

अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है। पुराने तेल-बत्ती या ईंधनके जल चुकने तथा नयेकी आमदनी न होनेसे जैसे दीपक या अग्नि बुझ जाते हैं, उसी तरह आस्रवों=चित्तमलो, (काम-भोगो, पुनर्जन्म और नित्य आत्माके नित्यत्व आदिकी दृष्टियों)के क्षीण होनेपर यह आवागमन नष्ट हो जाता है। निर्वाण बुझना है, यह उसका गव्दार्थ ही बतलाता है। बुद्धने अपने इस विशेष शब्दको इसी भावके द्योतनकेलिए चुना था। किन्तु साथ ही उन्होंने यह कहनेसे इन्कार कर दिया कि निर्वाण-गत पुरुष (=तथागत)का मरनेके बाद क्या होता है। अनात्मवादी दर्शनमें उसका क्या हो सकता है, यह तो आसानीसे समझा जा सकता है; किन्तु वह ख्याल "वालानां आसजनकम्" (=अज्ञोको भयभीत करनेवाला) है, इसलिए बुद्धने उसे स्पष्ट नहीं कहना चाहा^१। उदानके इस वाक्यको लेकर कुछ लोग निर्वाणको एक भावात्मक ब्रह्मलोक जैसा बनाना चाहते हैं।^२—

“हे भिक्षुओ ! अ-जात, अ-भूत, अ-कृत=अ-संस्कृत।” किन्तु यह, निषेधात्मक विशेषणसे किसी भावात्मक निर्वाणको सिद्ध तभी कर सकते थे, जब कि उसके ‘आनन्द’का भोगनेवाला कोई नित्य ध्रुव आत्मा होता। बुद्धने निर्वाण उस अवस्थाको कहा है, जहाँ तृष्णा क्षीण हो गई, आस्रव=चित्तमल (=भोग, जन्मान्तर और विशेष मतवादकी तृष्णाएं हैं) जहाँ नहीं रह जाते। इससे अधिक कहना बुद्धके अ-व्याकृत प्रतिज्ञाकी अवहेलना करनी होगी।^३

४-बुद्धका दर्शन और तत्कालीन समाज-व्यवस्था

दर्शन दिमागकी चीज है, फिर हाड़-मांसके समूहोवाले समाजका उसपर क्या वस है ? वह केवल मनकी ऊँची उड़ान, मनोमय जगत्की

^१ इतिवृत्तक, २।२।६

^२ उदान, ८।३

^३ उदान, ८।२—“दुहत्तं अनत्तं नानं न हि सच्चं सुदस्सनं।
पटिविद्धा तण्हा जानतो पत्ततो नत्थि किञ्चन ॥”

उपज है, इसलिए उसे उसी तलपर देखना चाहिए। दर्शनके मध्यममें इस तरहके विचार पूरव और पश्चिम दोनोंमें देखे जाने हैं। उनके ख्यालमें दर्शन भौतिक विषयसे बिलकुल अलग चीज है। लेकिन हमने यूनानी-दर्शनमें भी देखा है, कि दर्शन मनकी चीज होते हुए भी "तीन लोकमें मथुरा न्यारी"वाली चीज नहीं रहा। खुद मन भौतिक उपज है। याज्ञवल्क्यके गुरु उद्दालक आरुणिने भी साफ स्वीकार किया था कि "मन अन्नमय है। . . खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्माण ऊपर जाता है, वही मन है।" हम खुद अन्यत्र^१ बतला आये हैं, कि हमारे मनके विकासमें हमारे हाथों—हाथके श्रम, सामाजिक और वैयक्तिक दोनों—का बचने भारी हिस्सा है। मनुष्यकी भाँति मनुष्यका मन भी अपने निर्माणमें समाजका बहुत ऋणी है। ऐसी स्थितिमें मनकी उपज दर्शनकी भी व्याख्या समाजसे दूर जाकर कैसे की जा सकती है? उनलिए गर्जाय आँखकी अस्त्रियतकी जैसे शरीरसे अन्न निकालकर देनेसे नती मालूम हो सकती, उसी तरह दर्शनके समझनेमें भी हमें उसे उसके जन्म, और कार्यकी परिस्थितिमें देखना होगा।

उपनिषद्को हम देख चुके हैं, समाजकी रियतिको धारण करने (=रोकने)वाले धर्म (वैदिक कर्मकाण्ड और पाठ-पूजा)की ओरने आन्ध्या उठते देख पहिले शासक वर्गको चिन्ता हुई और धर्मियो—गजायों—ने ब्रह्मज्ञान तथा पुनर्जन्मके दर्शनको पैदाकर बुद्धिको धकाने गया सामाजिक विषमताको उचित ठहरानेकी चेष्टा की। दृष्टात्मक रीतिने विश्लेषण करनेपर हम देखेंगे—(१)

वाद—यज्ञ, वैदिक कर्मकाण्ड, पाठ-पूजा श्रेयका गन्ता है।

प्रतिवाद—यज्ञ रूपी घरनई पार होनेकेलिए बहुत जमजोर है।

सवाद—ब्रह्मज्ञान श्रेयका रास्ता है, जिनमें जन्म नष्टा होता है।

बुद्धका दर्शन—(२)

^१ छान्दोग्य-उपनिषद्, ६।६।१-५

^२ "मानव-समाज" पृ० ४-६

वाद (उपनिषद्)—आत्मवाद ।

प्रतिवाद (चार्वाक)—आत्मा नहीं भौतिकवाद ।

संवाद (बुद्ध)—अभौतिक अनात्मवाद ।

यह तो हुई विचार-शृंखला । समाजमें वैदिक धर्म स्थिति-स्थापक था, और वह सम्पत्तिवाले वर्गकी रक्षा और श्रमिक—दास, कर्मकर—वर्गपर अक्रुश रखनेके लिए, खूनी हाथोंसे जनताको कुचलकर स्थापित हुए राज्य (=शासन)की मदद करना चाहता था । इसका पारितोषिक था धार्मिक नेताओं (=पुरोहितों)का शोषणमें और भागीदार बनाया जाना । शोषित जनता अपने स्वतंत्र—वर्गहीन, आर्थिक दासता-विहीन—दिनोंको भूलसी चुकी थी, धर्मके प्रपचमें पड़कर वह अपनी वर्तमान परिस्थितिको “देवताओंका न्याय” समझ रही थी । शोषित जनताको वास्तविक न्याय करवानेके लिए तैयार करनेके वास्ते जरूरी था, कि उसे धर्मके प्रपचसे मुक्त किया जाये । यह प्रयोजन था, नास्तिकवाद (=देव-परलोकसे इन्कारी)—भौतिकवादका । ब्राह्मण (पुरोहित) अपनी दक्षिणा समेटनेमें मस्त थे, उन्हें भुसके ढेरमें सुलगती इस छोटीसी चिंगारीकी पर्वाह न थी । सदियोंसे आये कर्म-धर्मको वह वर्गशोषणका साधन नहीं बल्कि साध्य समझने लगे थे, इसलिए भी वह परिवर्तनके इच्छुक न थे । क्षत्रिय (=शासक) ठोस दुनिया और उसके चलने-फिरनेवाले, समझनेकी क्षमता रखनेवाले शोषित मानवोंकी प्रकृति और क्षमताको ज्यादा समझते थे । उन्होंने खतरेका अनुभव किया, और धर्मके फदेको दृढ़ करनेकेलिए ब्रह्मवाद और पुनर्जन्मको उसमें जोड़ा । गुरुमें पुरोहितवर्ग इससे कितना नाराज हुआ होगा, इसकी प्रतिध्वनि हमें जैमिनि और कुमारिलके भीमामा-दर्शनमें मिलेगी; जिन्होंने कि ब्रह्म (=पुरुष) ब्रह्मज्ञान सबसे इन्कार कर दिया—वेद अपौरुषेय हैं, उसे किसीने नहीं बनाया है । वह प्रकृतिकी भांति स्वयंभू है । वेदका विधान कर्मफल, परलोककी गारंटी है । वेद सिर्फ कर्मोंका विधान करते हैं, इन्हीं विधान-वाक्योंके समर्थनमें अर्थवाद (=स्तुति, निन्दा, प्रशंसा)के तौरपर वाकी सहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्का

सारा वक्तव्य है। तो भी जो प्रहार हो चुका था, उसमें वैदिक मन्त्राओं वचाया नहीं जा सकता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें पता लगता है, कि लोकायत (=भौतिक-नास्तिक)-वाद शासकोंमें भी भीतर ही भीतर बहुत प्रिय था। किन्तु दूसरी ही दृष्टिमें वह समयके अनुशासक, सिर्फ अपने स्थायी स्वार्थोंका ग्याल रखते हर मामाजिक—धार्मिक—नैतिक दल-लनेकी स्वतन्त्रता चाहते थे। लोगोंके धार्मिक मिथ्याविश्वासोंमें फास उठाकर, शासकोंको दैवी चमत्कारों द्वारा राज्यकोष और वन बटानेकी वहाँ माफ सलाह दी गई है। “दशकुमारचरित”के समय (८० छठी सदीमें तो राज्यके गुप्तचर धार्मिक “निर्दोष वेप”को वेगटके इस्तेमाल करते थे, और इस तरीकेका इस्तेमाल चाणक्य और उसके पहिलेके शासक भी निम्नकोच करते थे, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन, शासकवर्ग भौतिक-वादको अपने प्रयोजनकेलिए इस्तेमाल करता था—निर्णय, “ऋण कृत्वा धृत पिबेत्” (=ऋण करके धी पीने)के नीचे उद्देश्य थे। वही भौतिकवाद जब शोषित-श्रमिवर्गकेलिए इस्तेमाल होता, तो उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वार्थ नहीं होता था। अब अपने श्रमका फल स्वयं भोगनेकी मांग पेश करता—शोषणको बन्द करना चाहता था।

बुद्धका दर्शन अपने मौलिक रूप—प्रतीत्य-समुत्पाद (=क्षणिक-वाद)—में भारी क्रान्तिकारी था। जगत्, समाज, मनुष्य सभीको उसने क्षण-क्षण परिवर्तनशील घोषित किया, और कभी न लौटनेवाले “ने हि नो दिवसा गता” (=वे हमारे दिवस चले गये)की पर्याय द्वांश्वर परिवर्तनके अनुसार अपने व्यवहार, अपने समाजके परिवर्तनकेलिए हर वक्त तैयार रहनेकी शिक्षा देता था। बुद्धने अपने बड़े-बड़े दार्शनिक विचार (“धर्म”)को भी वेड़ेके समान सिर्फ उसमें फासदा उठानेकेलिए कहा था, और उसे समयके बाद भी होनेकी निन्दा की थी। तो भी इस क्रान्तिकारी दर्शनने अपने भीतरसे उन तत्त्वों (धर्म)को हटाया नहीं था, जो “समाजकी प्रगतिको रोकने”का काम देने हैं। पुनर्जन्मकी यद्यपि बुद्धने नित्य आत्माका एक शरीरमें दूसरे शरीरमें आवागमन

रूपमें माननेसे इन्कार किया था, तो भी दूसरे रूपमें परलोक और पुनर्जन्म-को माना था । जैसे इस शरीरमें 'जीवन' विच्छिन्न प्रवाह (नष्ट—उत्पत्ति—नष्ट—उत्पत्ति)के रूपमें एक तरहकी एकता स्थापित किये हुए है, उसी तरह वह शरीरान्तमें भी जारी रहेगा । पुनर्जन्मके दार्शनिक पहलूको और मजबूत करते हुए बुद्धने पुनर्जन्मका पुनर्जन्म प्रतिसन्धिके रूपमें किया—अर्थात् नाश और उत्पत्तिकी सधि(=शृंखला)से जुड़कर जैसे जीवन-प्रवाह इस शरीरमें चल रहा है, उसी तरह उसकी प्रतिसधि(=जुड़ना) एक शरीरसे अगले शरीरमें होती है । अविकारी ठोस आत्मामें पहिलेके संस्कारोको रखनेका स्थान नहीं था, किन्तु क्षण-परिवर्तनशील तरल विज्ञान (=जीवन)में उसके वासना या संस्कारके रूपमें अपना अग वनकर चलनेमें कोई दिक्कत न थी । क्षणिकता सृष्टि-की व्याख्याकेलिए पर्याप्त थी, किन्तु ईश्वरका काम संसारमें व्यवस्था, समाजमें व्यवस्था (=शोषितको विद्रोहसे रोकनेकी चेष्टा)—कायम रखना भी है । इसकेलिए बुद्धने कर्मके सिद्धान्तको और मजबूत किया । आवागमन, धनी-निर्वनका भेद उसी कर्मके कारण है, जिसके कर्त्ता कभी तुम खुद थे, यद्यपि आज वह कर्म तुम्हारे लिए हाथसे निकला तीर है ।

इस प्रकार बुद्धके प्रतीत्य-समुत्पादको देखनेपर जहाँ तत्काल प्रभु-वर्ग भयभीत हो उठता, वहाँ, प्रतिसधि और कर्मका सिद्धान्त उन्हें विलकुल निश्चित कर देता था । यही वजह थी, जो कि बुद्धके झंडेके नीचे हम बड़े-बड़े राजाओं, सम्राटों, सेठ-साहूकारोको आते देखते हैं, और भारतसे बाहर—लंका, चीन, जापान, तिब्बतमें तो उनके धर्मको फैलानेमें राजा सबसे पहिले आगे बढे ।—वह समझते थे, कि यह धर्म सामाजिक विद्रोहके लिए नहीं बल्कि सामाजिक स्थितिको स्थापित रखनेकेलिए बहुत सहायक साबित होगा । जातियो, देशोकी सीमाओंको तोड़कर बुद्धके विचारोंने राज्य-विस्तार करनेमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपेण भारी मदद की । समाजमें आर्थिक विषमताको अक्षुण्ण रखते ही बुद्धने वर्ण-व्यवस्था, जातीय ऊँच-नीचके भावको हटाना चाहा था, जिसमें वास्तविक विषमता तो

नहीं हटी, किन्तु निम्न वर्गका मज्जाव जम्बर बौद्ध धर्मको ओर बह गया । वर्ग-दृष्टिमें देखनेपर बौद्धधर्म मानव-वर्गके एजडकी मध्यम्यवर्गका जमा था, वर्गके भौतिक स्वार्थको बिना हटाये वह अपनेको न्याय-पक्षधारी सिद्ध-मानना चाहता था ।

मिद्धार्य गौतम अपने दर्शनके रूपमें मोचनेकेलिए क्यों मज्जद्वारा हुए ? इसकेलिए उनके चारों ओरकी भौतिक परिस्थिति गंभीर नरुण कारण बना ? यह प्रश्न उठ सकते हैं । किन्तु हमें न्याय-पक्षधारी के लिए कि व्यक्तिपर भौतिक परिस्थितिका प्रभाव समाजके एक आवश्यक रूपमें जो पड़ा है, कभी-कभी वही व्यक्तिकी विशेष दिशामें प्रतिक्रियाकेलिए पर्याप्त है; और कभी-कभी व्यक्तिकी अपनी वैयक्तिक भौतिक परिस्थिति भी दिशा-परिवर्तनमें सहायक होती है । पहिली दृष्टिमें बुद्धके दर्शनपर हम अभी विचार कर चुके हैं । बुद्धकी वैयक्तिक भौतिक परिस्थिति उनके दर्शनपर क्या कोई प्रभाव पड़ा है, जरा इसपर भी विचार करना चाहिए । बुद्ध शरीरमें बहुत स्वस्थ थे । मानसिक तौरसे वह शांत, गम्भीर, तीक्ष्ण प्रतिभाशाली विचारक थे । महत्वाकांक्षाएं उनकी उतनी ही थीं, जितनी कि एक काफी योग्यता रखनेवाले प्राण-दिग्गजों व्यक्तिकी होनी चाहिए । वह अपने दार्शनिक विचारोंकी मर्यादापर पूरा विश्वास रखते थे, प्रतीत्यसमुत्पादके महत्त्वकी अपनी प्रतीति समझते थे, नाथ ही पहिले-पहिले उन्हें अपने विचारोंको फैलानेकी उत्तुंगता न थी, क्योंकि वह तत्कालीन विचार-प्रवृत्तिकी दायक मर्यादा न थी । नाथद अभी तक उन्हें यह पता न था, कि उनके विचारों और उन समयके प्रभुवर्गकी प्रवृत्तिमें समझौतेकी गुंजायमान है ।

बुद्धके दर्शनका अन्तिम,—यनात्मके अतिरिक्त दुःखवाद भी एक स्वरूप है । उस दुःखवादका कारण यदि उन समयके समाज तथा बुद्धकी अपनी परिस्थितिमें हैं, तो वही मालूम होता है, कि उनके मन-पनमें ही मातृविधोग महना पड़ा था, किन्तु उनकी मौनी प्रजापति न स्नेह मित्रादिकेलिए कम न था । घरमें उनकी किसी प्रजापति न थी

हुआ हो, इसका पता नहीं लगता । एक धनिकपुत्रकेलिए जो भोग चाहिए, वह उन्हें मुलभ थे । किन्तु समाजमें होती घटनाएँ तेजीसे उनपर प्रभाव डालती थी । वृद्ध, बीमार और मृतके दर्शनसे मनमें वैराग्य होना इसी बातको सिद्ध करता है । दुःखकी सच्चाईको हृदयंगम करनेकेलिए यही तीन दर्शन नहीं थे, इससे बढ़कर मानवकी दासता और दरिद्रताने उन्हें दुःखकी सच्चाईको सावित करनेमें मदद दी होगी; यद्यपि उसका जिक्र हमें नहीं मिलता । इसका कारण स्पष्ट है—बुद्धने दरिद्रता और दासताको उठाना अपने प्रोग्रामका अंग नहीं बनाया था । आरम्भिक दिनोमें, जान पड़ता है, दरिद्रता-दासताकी भीषणताको कुछ हलका करनेकी प्रवृत्ति बौद्धसंघमें थी । कर्ज देनेवाले उस समय सम्पत्ति न होने-पर गरीर तक खरीद लेनेका अधिकार रखते थे, इसलिए कितने ही कर्जदार त्राण पानेकेलिए भिक्षु बन जाते थे । लेकिन जब महाजनोके विरोधी हो जानेका खतरा सामने आया, तो बुद्धने घोषित किया^१—

“ऋणीको प्रव्रज्या (=संन्यास) नहीं देनी चाहिए ।”

इसी तरह दासोके भिक्षु बननेसे अपने स्वार्थपर हमला होते देख दास-स्वामियोने जब हल्ला किया तो घोषित किया^२—

“भिक्षुओ ! दासको प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए ।”

बुद्धके अनुयायी मगधराज विविसारके सैनिक जब युद्धमें जानेकी जगह भिक्षु बनने लगे तो, सेनानायक और राजा बहुत घबराये, आखिर राज्यका अस्तित्व अन्तमें सैनिक-शक्तिपर ही तो निर्भर है । विविसारने जब पूछा कि, राजसैनिकको साधु बनानेवाला किस दंडका भागी होता है, तो अधिकारियोने उत्तर दिया^३—

“देव ! उस (=गुरु)का गिर काटना चाहिए, अनुयायक (=भिक्षु

^१ महावग्ग, १।३।४।८ (मेरा “विनयपिटक”, हिन्दी, पृष्ठ ११८)

^२ वहीं १।३।४।९ (मेरा “विनयपिटक”, पृ० ११८)

^३ वहीं, १।३।४।२ (वहीं, पृ० ११६-११७)

बनाते वक्त विधिवाक्योंको पढ़नेवाले) की जीभ निकालनी चाहिए, और गण (=मघ) की पसली तोड़ देनी चाहिए ।”

राजा विचिसारने जाकर बुद्धके पास इसकी शिकायत की, तो बुद्धने धोषित किया—

“भिक्षुओ ! राजनैनिकोंको प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए ।”

इस तरह दुःस्र गत्यके नाशाल्कारमे दुःस्र-देतुओंको नगरमे दूर करनेका जो सवाल था, वह तो खतम हो गया, अब उनका निषेध आध्यात्मिक मूल्य रह गया था, और वैसा होते ही सम्पत्तिवाने वर्गकेलिए बुद्धका दर्शन विषदन्तहीन सर्प-सा हो जाता है ।

सब देखनेपर हम यही कह सकते हैं, कि नत्कालीन दागता और दरिद्रता बुद्धको दुःस्रमत्त्य समझनेमे साधक हुए । दुःस्र दूर किया जा सकता है, इसे समझने हुए बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पादपर पहुँचे—धणिक तथा “हेतुप्रभव” होनेसे उसका अन्त हो सकता है । समारमे नाक दिगार्दे देनेवाले दुःखकारणोंको हटानेमे असमर्थ समझ उन्होंने उसकी धनीगिक व्याख्या कर डाली ।

तृतीय अध्याय

नागसेन (१५० ई० पू०)

१-सामाजिक परिस्थिति

बुद्धके जन्मसे कुछ पहिले हीसे उत्तरी भारतके सामन्तोंने राज्य-विस्तारकेलिए युद्ध छेड़ने शुरू किये थे—दो-तीन पीढ़ी पहिले ही कोसल-ने काशी-जनपदको हड़प कर लिया था। बुद्धके समयमें ही विविसारने अगको भी मगधमें मिला लिया और उस समय विध्यमें होती मगधकी सीमा अवन्ती (उज्जैन)के राज्यसे मिलती थी। वत्स (=कौशाम्बी, इलाहाबाद)का राज भी उस वक्तके सभ्य भारतके बड़े शासकोंमें था। कोसल, मगध, वत्स, अवन्तीके अतिरिक्त लिच्छवियों (वैशाली)का प्रजातन्त्र पाँचवीं महान् शक्ति थी। आर्य प्रदेशोंको विजय करते एक-एक जन (=कबीले)के रूपमें बसे थे। आर्योंकी यह नई वस्तियाँ पहिलेसे बसे लोगों और स्वयं दूसरे आर्य जनोंके खूनी संघर्षोंके साथ मजबूत हुई थी। कितनी ही सदियों तक राजतन्त्र या प्रजातन्त्रके रूपमें यह जन चले आये। उपनिषद्कालमें भी यह जन दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि जनतन्त्रके रूपमें नहीं बल्कि अधिकतर सामन्ततन्त्रके रूपमें। बुद्धके समय जनोकी भीमावदियाँ टूट रही थी, और काशि-कोसल, अग-मगधकी भाँति अनेक जनपद मिलकर एक राज्य बन रहे थे। व्यापारी वर्गने व्यापारिक क्षेत्रमें इन सीमाओंको तोड़ना शुरू किया। एक नहीं अनेक राज्योंसे व्यापारिक सवधके कारण उनका स्वार्थ उन्हें मजबूर कर रहा था, कि वह छोटे-छोटे स्वतन्त्र जनपदोंकी जगह एक बड़ा राज्य कायम होनेमें मदद करें। मगधके धनजय मेट (विगाखाके पिता)को साकेत (=अयोध्या)में बड़ी कोठी कायम करने

हम अन्यत्र^१ देख चुके हैं। जिस वक्त व्यापारी अपने व्यापार द्वाग, नाना अपनी मेना द्वारा जनपदोंकी सीमा तोटनेमें लगे हुए थे, उन वक्त दो भी दर्शन या धार्मिक विचार उसमें महावता देने, उनका अधिग प्रचार होना जम्री था। बौद्ध धर्मने इस कामको सफलताके साथ किया, नाना जान-बूझकर यैली और राजके हाथमें बिरुका ऐना न भी हुआ।

बुद्धके निर्वाणके तीन वर्ष बाद (४८० ई० पू०) अजातशत्रु (मगध) ने लिच्छवि प्रजातत्रको खतम कर दिया, और अपने समयमें ही उसने अपने राज्यकी सीमा कोसीमें यमुना तक पहुँचा दी, उत्तर दक्षिणमें उसकी सीमा विन्ध्य और हिमालय थे। जनपदों, जातियों, वर्णोंकी सीमाओंको न मानने-वाली बुद्धकी शिक्षा, यद्यपि इस बातमें अपने समयकीन दूसरे छे तीर्थरंजि समान ही थी, किन्तु उनके साथ उनके दार्शनिक विचार बुद्धिवादियोंकी ज्यादा आकर्षक मानूम होते थे—पिछले दार्शनिक प्रवात्ता चरम रूप होनेसे उमे श्रेष्ठ होना ही चाहिए था। उन समयके प्रतिभागाने द्वाह्मणों और क्षत्रिय विचारकोंका भागी भाग बुद्धके दर्शनमें प्रभावित था। उन आदर्शवादी भिक्षुओंका त्याग और गादा जीवन भी काम आरपंग न था। इस प्रकार बुद्धके समय और उनके बाद बौद्धधर्म युग-प्रमं—जनपद-एकीकरण—में सबसे अधिक सहायक बना। विविधारके वगैरे बाद नन्दीग राज्यवज आया, उसने अपनी सीमाको और बढ़ाया, और पच्छिममें गताज तक पहुँच गया। पिछले राजवशके बौद्ध होनेके कारण उनके उत्तगधिकारी नदवशका धार्मिक तीरने बौद्धधर्मके साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध नाने न भी रहा हो, किन्तु राज्यके भीतर जददन्ती धामिन गिये जाने जनपदोंमें जनपदके व्यक्तित्वके भावों हटाकर एकात्मता जो काम दान कर रहे थे, उनके महत्त्वको वह भी नहीं भूल सकते थे—मगधने दाने जीवनमें उनका धर्म बहुत अधिक जनप्रिय हो चुका था, प्राग प्राग नानधर्म भी हो ही चुका था। इस प्रकार मगधराजके सामन और प्रगाने

विस्तारके साथ उसके बौद्धधर्मके विस्तारका होना ही था। नन्दोंके अन्तिम समयमें सिकन्दरका पञ्जावपर हमला हुआ, यद्यपि यूनानियोंका उस वक्तका शासन विलकुल अस्थायी था, तो भी उसके कारण भारतमें यूनानी सिपाही व्यापारी, शिल्पी लाखोंकी सख्यामें बसने लगे थे। इन अभिमानी “म्लेच्छ” जातियोंको भारतीय बनानेमें सबसे आगे बढ़े थे बौद्ध। यवन मिनान्दर और शक कनिष्क जैसे प्रतापी राजाओंका बौद्ध होना आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि वह यह बतलाता है कि जनपद और जनपद, आर्य और म्लेच्छके बीचके भेदको मिटानेमें बौद्धधर्मने खूब हाथ डेटाया था।

२-यूनानी और भारतीय दर्शनोंका समागम

यूनानी भारतीयोंकी भाँति उस वक्तकी एक बड़ी सभ्य जाति थी। दर्शन, कला, व्यापार, राजनीति, सभीमें वह भारतीयोंसे पीछे तो क्या मूर्तिकला, नाट्यकला जैसी कुछ बातोंमें तो भारतीयोंसे आगे थे। दर्शनके निम्न सिद्धान्तोंको उनके दार्शनिक आविष्कृत कर चुके थे, और इन्हें पिछले वक्तके भारतीयोंने विना ऋण कबूल किये अपने दर्शनका अंग बना लिया।

वाद	दार्शनिक	समय ई० पू०
आकृतिवाद	पिथागोर	५७०-५००
क्षणिकवाद	हेराक्लितु	५३५-४७५
बीजवाद	अनखागोर	५००-४२८
परमाणुवाद	देमोक्रितु	४६०-३७०
विज्ञान (=आकृति)	अफलातूँ	४२७-३४७
विशेष	„	
सामान्य (=जाति)	„	
मूल स्वरूप	„	
सृष्टिकर्ता	„	

उपादान कारण

निमित्त कारण

अग्न्य

३८४-३८७

तर्कशास्त्र

"

द्रव्य

"

गुण

"

कर्म

अग्न्य

दिशा

"

काल

"

परिमाण

"

आसन

"

स्थिति

"

इस दर्शनका भारतीय दर्शनपर क्या प्रभाव पड़ा, यह अगले पृष्ठोंमें मालूम होगा। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है, कि तैत्तिरीय, अफलातून, अरस्तू दर्शनको जाननेवाले अनेक यवन भारतमें दृष्ट गये थे, और वे बुद्धके दर्शनके महत्त्वको अच्छी तरह समझ सकते थे।

यह है समय जब कि यवन-शानिन पञ्चावसे नागसेन पैदा होते हैं।

३-नागसेनकी जीवनी

नागसेनके जीवनके बारेमें "मिलिन्द प्रश्न" में जो कुछ मिलता है, उसमें इतना ही मालूम होता है, कि हिमालय-पर्वतके पास (पञ्चाद्र) में पञ्चगवर्ग नामके सोनूत्तर ब्राह्मणके घरमें उनका जन्म हुआ था। पिताके घरमें ही रहते उन्होंने ब्राह्मणोंकी विद्या वेद, व्याकरण आदिको पढ़ लिया था। उसके बाद उनका परिचय उन वक्ता वक्तानीय (=वर्तनीय) न्यायमें करने एक विद्वान् भिक्षु रोहणसे हुआ, जिनसे नागसेन बौद्ध-विचारोंकी प्राप्ति

^१ 'मिलिन्द-प्रश्न', अनुवादक भिक्षु जगदीश पादवप, १९३७ ई०।

भुके । रोहणके शिष्य वन वह उनके साथ विजम्भवस्तु^१ (=विजृम्भवस्तु) होते हिमालयमें रक्षिततल नामक स्थानमें गये । वहीं गुरुने उन्हें उस समयकी रीतिके अनुसार कठस्थ किये सारे बौद्ध वाङ्मयकी पढाया । और पढनेकी इच्छासे गुरुकी आज्ञाके अनुसार वह एक बार फिर पैदल चलते वर्तनीयमें एक प्रख्यात विद्वान् अश्वगुप्तके पास पहुँचे । अश्वगुप्त अभी इस नये विद्यार्थीकी विद्या-बुद्धिकी परख कर ही रहे थे, कि एक दिन किसी गृहस्थके घर भोजनके उपरान्त कायदेके अनुसार दिया जानेवाला धर्मोपदेश नागसेनके जिम्मे पडा । नागसेनकी प्रतिभा उससे खुल गई और अश्वगुप्तने इस प्रतिभा-शाली तरुणको और योग्य हाथोंमें सौंपनेकेलिए पटना (=पाटलिपुत्र) के अशोकाराम विहारमें वास करनेवाले आचार्य धर्मरक्षितके पास भेज दिया । सौ योजनपर अवस्थित पटना पैदल जाना आसान काम न था, किन्तु अब भिक्षु वरावर आते-जाते रहते थे, व्यापारियोंका सार्थ (=कारवाँ) भी एक-न-एक चलता ही रहता था । नागसेनको एक ऐसा ही कारवाँ मिल गया जिसके स्वामीने बड़ी खुशीसे इस तरुण विद्वान्को खिलाते-पिलाते साथ ले चलना स्वीकार किया ।

अशोकाराममें आचार्य धर्मरक्षितके पास रहकर उन्होंने बौद्ध तत्त्व-ज्ञान और पिटकका पूर्णतया अध्ययन किया । इसी बीच उन्हें पंनावसे बुलौवा आया, और वह एक बार फिर रक्षिततलपर पहुँचे ।

मिनान्दर (=मिलिन्द) का राज्य यमुनासे आमू (वक्षु) दरिया तक फैला हुआ था । यद्यपि उसकी एक राजधानी बलख (बाह्लीक) भी थी, किन्तु हमारी इस परंपराके अनुसार मालूम होता है, मुख्य राजधानी सागल (=स्यालकोट) नगरी थी । प्लूतार्कने लिखा है कि—मिनान्दर बड़ा न्यायी, विद्वान् और जनप्रिय राजा था । उसकी मृत्युके बाद उसकी हड्डियोंकेलिए लोगोमें लडाईं छिड़ गई । लोगोंने उसकी हड्डियोंपर बड़े-

^१ वर्तनीय, कजंगल और शायद विजृम्भवस्तु भी स्यालकोटके जिलेमें थे ।

बड़े स्तूप बनवाये । मिनान्दरको शास्त्रचर्चा और बहसकी बड़ी आदत थी, और साधारण पंडित उसके सामने नहीं टिक सकते थे । भिक्षुओंने कहा—‘नागसेन ! राजा मिलिन्द वादविवादमें प्रग्न पूछकर भिक्षु-सघको तग करता और नीचा दिखाता है, जाओ तुम उस राजाका दमन करो ।’

नागसेन, सघके आदेशको स्वीकार कर सागल नगरके असंख्य नामक परिवेण (=मठ)में पहुँचे । कुछ ही समय पहिले वहाँके बड़े पंडित आयु-पालको मिनान्दरने चुप कर दिया था । नागसेनके आनेकी खबर शहरमें फैल गई । मिनान्दरने अपने एक अमात्य देवमत्री (=जो शायद यूनानी दिमित्री है)से नागसेनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की । स्वीकृति मिलनेपर एक दिन “पाँच सौ यवनोके साथ अच्छे रथपर सवार हो वह असंख्य परिवेणमें गया । राजाने नमस्कार और अभिनदनके वाद प्रश्न शुरू किये ।” इन्ही प्रश्नोके कारण इस ग्रंथका नाम “मिलिन्द-प्रश्न” पडा । यद्यपि उपलभ्य पाली “मिलिन्द पञ्च”में छ परिच्छेद है, किन्तु उनमेंसे पहिलेके तीन ही पुराने मालूम होते हैं, चीनी भाषामें भी इन्ही तीन परिच्छेदोका अनुवाद मिलता है । मिनान्दरने पहिले दिन मठमें जाकर नागसेनसे प्रश्न किये, दूसरे दिन-उसने महलमें निमन्त्रण कर प्रश्न पूछे ।

४-दार्शनिक विचार

अपने उत्तरमें नागसेनने बुद्धके दर्शनके अनात्मवाद, कर्म या पुनर्जन्म, नाम-रूप (=मन और भौतिक तत्त्व), निर्वाण आदिको ज्यादा विशद् करनेका प्रयत्न किया है ।

(१) अनात्मवाद—मिनान्दरने पहिले वीद्धोके अनात्मवादकी ही परीक्षा करनी चाही । उसने पूछा^१—

(क) “भन्ते (स्वामिन्) ! आप किस नामसे जाने जाते हैं ?”

“नागसेन . . . नामसे (मुझे) पुकारते हैं ? किन्तु यह केवल

^१ मिलिन्द-प्रश्न, २।१ (अनुवाद, पृ० ३०-३४)

व्यवहारकेलिए संज्ञा भर है, क्योंकि यथार्थमें ऐसा कोई एक पुरुष (=आत्मा) नहीं है।”

“भन्ते ! यदि एक पुरुष नहीं है तो कौन आपको वस्त्र . . . भोजन देता है ? कौन उसको भोग करता है ? कौन शील (=सदाचार) की रक्षा करता है ? कौन ध्यान . . . का अभ्यास करता है ? कौन आर्यमार्गके फल निर्वाणका साक्षात्कार करता है ? यदि ऐसी बात है तो न पाप है और न पुण्य, न पाप और पुण्यका कोई करनेवाला है . . . न करानेवाला है । न पाप और पुण्य . . . के फल होते हैं ? यदि आपको कोई मार डाले तो किसीका मारना नहीं हुआ । . . . (फिर) नागसेन क्या है ? क्या ये केवल नागसेन हैं ?”

“नहीं महाराज !”

“ये रोयें नागसेन हैं ?”

“नहीं महाराज !”

“ये नख, दाँत, चमड़ा, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, वृक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आँत, पतली आँत, पेट, पाखाना, पित्त, कफ, पीव, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्वी, राल, नासामल, कर्णमल, मस्तिष्क नागसेन हैं ?”

“नहीं महाराज !”

“तब क्या आपका रूप (=भौतिक तत्त्व) . . . वेदना . . . संज्ञा संस्कार या विज्ञान नागसेन हैं ?”

“नहीं महाराज !”

“ तो क्या रूप विज्ञान (=पाँचो स्कन्ध) सभी एक साथ नागसेन हैं ?”

“नहीं महाराज !”

“ तो क्या रूप आदिसे भिन्न कोई नागसेन हैं ?”

“नहीं महाराज !”

“भन्ते ! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया किन्तु ‘नागसेन’ क्या है, ।

इसका पता नहीं लग सका । तो क्या नागसेन केवल शब्दमात्र है ? आखिर नागसेन है कौन ?”

“महाराज ! क्या आप पैदल चलकर यहाँ आये या किस सवारीपर ?”

“भन्ते ! मैं रथपर आया ।”

“महाराज ! तो मुझे बतावे कि आपका ‘रथ’ कहाँ है क्या हरिस (=ईषा) रथ है ?”

“नहीं भन्ते ।”

“क्या अक्ष रथ है ?”

“नहीं भन्ते ।”

“क्या चक्के रथ है ?”

“नहीं भन्ते !”

“क्या रथका पजर . रस्सियाँ . लगाम . चादुक . रथ है ?”

“नहीं भन्ते ।”

“महाराज ! क्या हरीस आदि सभी एक साथ रथ है ?”

“नहीं भन्ते ।”

“महाराज ! क्या हरीस आदिके परे कही रथ है ?”

“नहीं भन्ते ।”

“महाराज ! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया, किन्तु यह पता नहीं लगा कि रथ कहाँ है ? क्या रथ केवल एक शब्द मात्र है ? आखिर यह रथ है क्या ? आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है । महाराज ! साम्बूद्वीप (=भारत) के आप सबसे बड़े राजा हैं, भला किससे डरकर आप झूठ बोलते हैं ?”

“भन्ते नागसेन ! मैं झूठ नहीं बोलता । हरीस आदि रथके अवयवों के आधारपर केवल व्यवहारकेलिए ‘रथ’ ऐसा एक नाम बोला जाता है ।”

“महाराज ! बहुत ठीक, आपने जान लिया कि रथ क्या है । इस

तरह मेरे केश आदिके आधारपर केवल व्यवहारकेलिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम बोला जाता है। परन्तु, परमार्थमें 'नागसेन' कोई एक पुरुष विद्यमान नहीं है। भिक्षुणी वज्राने भगवान्‌के सामने इसीलिए कहा था—

‘जैसे अवयवोंके आधारपर ‘रथ’ सजा होती है, उसी तरह (रूप आदि) स्कंधोंके होनेसे एक सत्त्व (=जीव) समझा जाता है।’^१

(ख)^२—“महाराज ! ‘जान लेना’ विज्ञानकी पहिचान है, ‘ठीकसे समझ लेना’ प्रज्ञाकी पहिचान है; और ‘जीव’ ऐसी कोई चीज नहीं है।”

“भन्ते ! यदि जीव कोई चीज ही नहीं है, तो हम लोगोमें वह क्या है जो आँखसे रूपोंको देखता है, कानसे शब्दोंको सुनता है, नाकसे गंधोंको सूँघता है, जीभसे स्वादोंको चखता है, शरीरसे स्पर्श करता है और मनसे ‘धर्मों’को जानता है।”

‘महाराज ! यदि शरीरसे भिन्न कोई जीव है जो हम लोगोंके भीतर रह आँखसे रूपोंको देखता है, तो आँख निकाल देनेपर बड़े छेदसे उसे और भी अच्छी तरह देखना चाहिए। कान काट देनेपर बड़े छेदसे उसे और भी अच्छी तरह सुनना चाहिए। नाक काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह सूँघना चाहिए। जीभ काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्वाद लेना चाहिए और शरीरको काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्पर्श करना चाहिए।”

“नहीं भन्ते ! ऐसी बात नहीं है।”

“महाराज ! तो हम लोगोंके भीतर कोई जीव भी नहीं है।”

(२) कर्म या पुनर्जन्म—आत्माके न माननेपर किये गये भले बुरे कर्मोंकी ज़िम्मेवारी तथा उसके अनुसार परलोकमें दुःख-सुख भोगना कैसे होगा, मिनान्दरने इसकी चर्चा चलाते हुए कहा।

“भन्ते ! कौन जन्म ग्रहण करता है ?”

“महाराज ! नाम^३ (=विज्ञान) और रूप^४ ।”

^१ संयुत्तनिकाय, ५।१०।६

^२ वहीं, ३।४।४४ (अनुवाद, पृष्ठ ११०) ^३ Mind. ^४ Matter.

“क्या यही नाम—रूप जन्म ग्रहण करता है ?”

“महाराज ! यही नाम और रूप जन्म नहीं ग्रहण करता । मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य करता है, उस कर्मके करनेसे दूसरा नाम रूप जन्म ग्रहण करता है ।”

“भन्ते ! तब तो पहिला नाम और रूप अपने कर्मोंसे मुक्त हो गया ?”

“महाराज ! यदि फिर भी जन्म नहीं ग्रहण करे, तो मुक्त हो गया, किन्तु, चूंकि वह फिर भी जन्म ग्रहण करता है, इसलिए (मुक्त) नहीं हुआ ।”

“ . . . उपमा देकर समझावें ।”

a. “आमकी चोरी!—कोई आदमी किसीका आम चुरा ले । उसे आमका मालिक पकडकर राजाके पास ले जाये—‘राजन् ! इसने मेरा आम चुराया है’ । इसपर वह (चोर) ऐसा कहे—‘नहीं, मैंने इसके आमोको नहीं चुराया है । इसने (जो आम लगाया था) वह दूसरा था, और मैंने जो आम लिये वे दूसरे हैं । . . ’ महाराज ! अब बतावे कि उमे सजा मिलनी चाहिए या नहीं ?”

“ . . . सजा मिलनी चाहिए ।”

“सो क्यों ?”

“भन्ते ! वह ऐसा भले ही कहे, किन्तु पहिले आमको छोड़ दूसरे हीको चुरानेके लिए उसे जरूर सजा मिलनी चाहिए ।”

“महाराज ! इसी तरह मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य करता है । उन कर्मोंसे दूसरा नाम और रूप जन्मता है । इसलिए वह अपने कर्मोंसे मुक्त नहीं हुआ ।

b. “आगका प्रवास—महाराज ! कोई आदमी जाडेमे आग जलाकर तापे और उसे बिना बुझाये छोडकर चला जाये । वह आग किसी दूसरे आदमीके खेतको जला दे (पकडकर राजाके पास ले जानेपर वह आदमी बोले—) ‘मैंने इस खेतको नहीं जलाया ।

‘वह दूसरी ही आग थी, जिसे मैंने जलाया था, और वह दूसरी है जिससे . . . खेत जला । मुझे सजा नहीं मिलनी चाहिए ।’ . . . महाराज । उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं ?”

“ . मिलनी चाहिए । . उसीकी जलाई हुई आगने बढ़ते-बढ़ते खेतको भी जला दिया । ”

C. “दीपकसे आग लगना—महाराज । कोई आदमी दीया लेकर अपने घरके उपरले छतपर जाये और भोजन करे । वह दीया जलता हुआ कुछ तिनकोमें लग जाये । वे तिनके घरको (आग) लगा दे, और वह घर सारे गाँवको लगा दे । गाँववाले उस आदमीको पकड़ कर कहे—‘तुमने गाँवमे क्यों आग लगाई ?’ इसपर वह कहे—‘मैंने गाँवमे आग नहीं लगाई । उस दीयेकी आग दूसरी ही थी, जिसकी रोगनीमे मैंने भोजन किया था, और वह आग दूसरी ही थी, जिसने गाँव जलाया ।’ इस तरह आपसमे झगड़ा करते (यदि) वे आपके पास आवे, तो आप किधर फैसला देंगे ?”

“मन्ते ! गाँववालोकी ओर, . . . ।”

“महाराज ! इसी तरह यद्यपि मृत्युके साथ एक नाम और रूपका लय होता है और जन्मके साथ दूसरा नाम और रूप उठ खड़ा होता है, किन्तु यह भी उसीसे होता है । इसलिए वह अपने कर्मोंसे मुक्त नहीं हुआ ।”

(ग) विवाहित कन्या—महाराज । कोई आदमी . . . रुपया दे एक छोटीसी लड़कीसे विवाह कर, कहीं दूर चला जाये । कुछ दिनोके बाद वह बढ़कर जवान हो जाये । तब कोई दूसरा आदमी रुपया देकर उससे विवाह कर ले । इसके बाद पहिला आदमी आकर कहे—‘तुमने मेरी स्त्रीको क्यों निकाल लिया ?’ इसपर वह ऐसा जवाब दे—‘मैंने तुम्हारी स्त्रीको नहीं निकाला । वह छोटी लड़की दूसरी ही थी, जिसके साथ तुमने विवाह किया था और जिसकेलिए रुपये दिये थे । यह सयानी, जवान औरत दूसरी ही है जिसके साथ किं मैंने विवाह किया है और

जिसकेलिए रुपये दिये हैं । अब, यदि दोनों इस तरह भगड़ते हुए आपके पास आवें तो आप किधर फँसला देंगे ?”

“ . पहिले आदमीकी ओर । . . (क्योंकि) वही लड़की तो बढ़कर सयानी हुई ।”

(घ) — “भन्ते ! जो उत्पन्न है, वह वही व्यक्ति है या दूसरा ?”

“न वही और न दूसरा ही । . (१) जब आप बहुत बच्चे थे और खाटपर चित्त ही लेट सकते थे, क्या आप अब इतने बड़े होकर भी वही है ?”

“नही भन्ते ! अब मैं दूसरा हो गया हूँ ।”

“महाराज ! यदि आप वही बच्चा नहीं है, तो अब आपकी कोई माँ भी नहीं है, कोई पिता भी नहीं है, कोई गुरु भी नहीं । . . . क्योंकि तब तो गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी भी भिन्न-भिन्न माताएँ होयेंगी । बड़े होनेपर माता भी भिन्न हो जायेगी । शिल्प सीखनेवाला (विद्यार्थी) दूसरा और सीखकर तैयार (हो जानेपर) . . . दूसरा होगा । अपराध करनेवाला दूसरा होगा और (उसकेलिए) हाथ-पैर किसी दूसरेका काटा जायेगा ।”

“भन्ते ! . . आप इससे क्या दिखाना चाहते हैं ?”

“महाराज ! मैं बचपनमें दूसरा था और इस समय बड़ा होकर दूसरा हो गया हूँ; किन्तु वह सभी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ इस शरीरपर ही घटनेसे एक हीमें ले ली जाती हैं । . . .

“(२) यदि कोई आदमी दीया जलावे, तो वह रात भर जलता रहेगा न ?”

“ . . . रातभर जलता रहेगा ।”

“महाराज ! रातके पहिले पहरमें जो दीयेकी टेम थी । क्या वही दूसरे या तीसरे पहरमें भी बनी रहती है ?”

^१ वहीं, २।२।६ (अनुवाद, पृ० ४६)

“नही, भन्ते !”

“महाराज ! तो क्या वह दीया पहिले पहरमे दूसरा. दूसरे और तीसरे पहरमे और हो जाता है ?”

“नही भन्ते ! वही दीया सारी रात जलता रहता है ।”

“महाराज ! ठीक इसी तरह किसी वस्तुके अस्तित्वके सिलसिलेमें एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक लय होती है—और इस तरह प्रवाह जारी रहता है । एक प्रवाहकी दो अवस्थाओंमें एक क्षणका भी अन्तर नहीं होता; क्योंकि एकके लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है । इसी कारण न (वह) वही जीव है और न दूसरा ही हो जाता है । एक जन्मके अन्तिम विज्ञान (=चेतना)के लय होते ही दूसरे जन्मका प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है ।

(६)^१—“भन्ते ! जब एक नाम-रूपसे अच्छे या बुरे कर्म किये जाते हैं, तो वे कर्म कहाँ ठहरते हैं ?”

“महाराज ! कभी भी पीछा नहीं छोड़नेवाली छायाकी भाँति वे कर्म उसका पीछा करते हैं ।”

“भन्ते ! क्या वे कर्म दिखाये जा सकते हैं, (कि) वह यहाँ ठहरे हैं ?”

“महाराज ! वे इस तरह नहीं दिखाये जा सकते । . . . क्या कोई वृक्षके उन फलोको दिखा सकता है जो अभी लगे ही नहीं . . . ?”

(३) नाम और रूप—बुद्धने विश्वके मूल तत्त्वोंको विज्ञान (=नाम) और भौतिकतत्त्व (=रूप)में बाँटा है, इनके बारेमें मिनान्दरने पूछा—

“भन्ते ! . . . नाम क्या चीज है और रूप क्या चीज ?”

“महाराज ! जितनी स्थूल चीजें हैं, सभी रूप हैं; और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म हैं, सभी नाम हैं । . . . दोनो एक दूसरेके आश्रित हैं, एक दूसरेके बिना ठहर नहीं सकते । दोनों (सदा) साथ ही होते हैं । . . . यदि मुर्गीके पेटमें (बीज रूपमें) बच्चा नहीं हो तो अंडा भी नहीं हो

सकता, क्योंकि वच्चा और अटा दोनों एक दूसरेपर आश्रित हैं। दोनों एक ही साथ होते हैं। यह (सदासे) . . होता चला आया है। . . ”

(४) निर्वाण—मिनान्दरने निर्वाणके बारेमें पूछते हुए कहा^१—
“भन्ते ! क्या निरोध हो जाना ही निर्वाण है ?”

“हाँ, महाराज ! निरोध (=वन्द) हो जाना ही निर्वाण है। . . . सभी . . . अज्ञानी . . विषयोके उपभोगमें लगे रहते हैं, उसीमें आनन्द लेते हैं, उसीमें डूबे रहते हैं। वे उसीकी धारामें पड़े रहते हैं, बार-बार जन्म लेते, बूढ़े होते, मरते, शोक करते, रोते-पीटते, दुःख वेचैनी और परेशानीसे नहीं छूटते। (वह) दुःख ही दुःखमें पड़े रहते हैं। महाराज ! किन्तु ज्ञानी . . . विषयोके भोग (=उपादान) में नहीं लगे रहते। इससे उनकी तृष्णाका निरोध हो जाता है। उपादानके निरोधसे भव (=आवा-गमन) का निरोध हो जाता है। भवके निरोधसे जन्मना वन्द हो जाता है। . . . (फिर) बूढ़ा होना, मरना . . सभी दुःख वन्द = (निवृद्ध) हो जाते हैं। महाराज ! इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।” .

“ . . (बुद्ध) कहाँ है ?”

“महाराज ! भगवान् परम निर्वाणको प्राप्त हो गये हैं, जिसके बाद उनके व्यक्तित्वको बनाये रखनेकेलिए कुछ भी नहीं रह जाता . . . ।”

“भन्ते ! उपमा देकर समझावें।”

“महाराज ! क्या होकर-बुझ-गई जलती आगकी लपट, दिखाई जा सकती है . . ?”

“नहीं भन्ते ! वह लपट तो बुझ गई।”

नागसेनने अपने प्रश्नोत्तरोसे बुद्धके दर्शनमें कोई नई बात नहीं जोड़ी, किन्तु उन्होंने उसे कितना साफ किया यह ऊपरके उद्धरणोंसे स्पष्ट है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि नागसेनका अपना जन्म

^१ वही, ३।१।६ (अनुवाद, पृ० ८५)

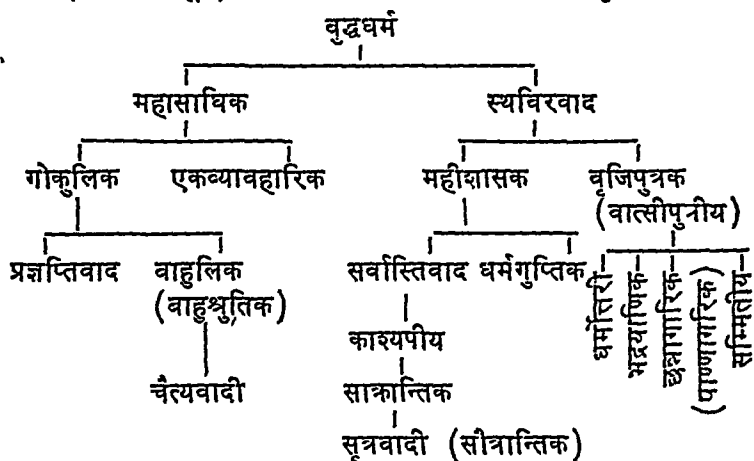
^२ वही, ३।२।१८ (अनुवाद, पृ० ९१)

हिन्दी-यूनानी साम्राज्य और सभ्यताके केन्द्र स्यालकोट(=सागल)के पास हुआ था, और भारतीय ज्ञानके साथ-साथ यूनानी ज्ञानका भी परिचय रखनेके कारण ही वह मिनान्दर जैसे तार्किकका समाधान कर सके थे । मिनान्दर और नागसेनका यह सवाद इतिहासकी उस विस्तृत घटनाका एक नमूना है, जिसमे कि हिन्दी और यूनानी प्रतिभाएं मिलकर भारतमें नई विचार-धाराओंका आरम्भ कर रही थी ।

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध-सम्प्रदाय

१. बौद्ध धार्मिक संप्रदाय—बुद्ध आत्मवादके सख्त विरोधी थे, फिर साथ ही वह भौतिकवादके भी खिलाफ थे, यह हम बतला चुके हैं। मौर्योंके शासनकालके अन्त तक मगध ही बौद्ध-धर्मका केन्द्र था, किन्तु साम्राज्यके ध्वसके साथ बौद्ध धर्मका केन्द्र भी कमसे कम उसकी सबसे अधिक प्रभावशाली शाखा (=निकाय)—पूरवसे पश्चिमकी ओरको लेनेपर हटने लगा। इसी स्थान-परिवर्तनमें सर्वास्तिवाद निकाय मगधसे उरुमुड पर्वत (=गोवर्धन, मथुरा) पहुँचा, और यवन-शासन कालमें पजावमें जोर पकड़ते-पकड़ते कनिष्कके समय ईसाकी पहिली सदीके मध्यमें गंधार-कश्मीर उसके प्रधान केन्द्र बन गये। यही जगह थी, जहाँ वह यूनानी विचार, कला आदिके सपर्कमें आया। अगोकके समय (२६६ ई० पू०) तक बौद्ध धर्म निम्न संप्रदायोंमें बँट चुका था—



‘देखो मेरी “पुरातत्त्व-निबन्धावली”, पृ० १२१ (और कथावत्यु-
श्रद्धकथा भी)।

अर्थात्—बुद्धनिर्वाण (४८३ ई० पू०) के बादके सौ वर्षों (३८० ई० पू०) में स्थविरवाद (=बृद्धोंके रास्तेवाले) और महासाधिक जो दो निकाय (=संप्रदाय) हुए थे, वह अगले सवा सौ वर्षोंमें बँटकर महासाधिकके छै और स्थविरवादके बारह कुल अठारह निकाय हो गए—सर्वास्तिवाद स्थविरवादियोंके अन्तर्गत था । इन अठारह निकायोंके पिटक (सूत्र, विनय, अभिधर्म) भी थे, जो सूत्र और विनयमें बहुत कुछ समानता रखते थे, किन्तु अभिधर्म पिटकमें मतभेद ही नहीं बल्कि उनकी पुस्तकें भी भिन्न थी । स्थविरवादियोंने इन प्राचीन निकायोंमेंसे निम्न आठके कितने ही मतोंका अपने अभिधर्मकी पुस्तक 'कथावत्थु' में खडन किया है—

महासाधिक, गोकुलिक, काश्यपीय; भद्रयाणिक, महीशासक, वात्सीपुत्रीय, सर्वास्तिवाद, साम्मतीय ।

कथावत्थु को अशोकके गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्सकी कृति बतलाया जाता है, किन्तु उसमें वर्णित २१४ कथावस्तुओं (=वादके विषयों) में सिर्फ ७३ उन पुराने निकायोंसे संबध रखते हैं,^१ जो कि मोग्गलिपुत्त तिस्सके समय तक मौजूद थे—अर्थात् उसका इतना ही भाग मोग्गलिपुत्तका बनाया हो सकता है । बाकी "कथावस्तु" अशोकके बादके निम्न आठ निकायोंसे संबध रखती है—

(१) अन्धक, (२) अपरशैलीय, (३) पूर्वशैलीय, (४) राजगिरिक, (५) सिद्धार्थक (६) वैपुल्यवाद, (७) उत्तरापथक, (८) हेतुवाद ।

२. बौद्ध दार्शनिक संप्रदाय—इन पुराने निकायोंके दार्शनिक विचारोंमें जानेकी जरूरत नहीं, क्योंकि वह "दिग्दर्शन"के कलेवरसे बाहरकी बात है, किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि बौद्धोंके जो चार दार्शनिक संप्रदाय प्रसिद्ध हैं, उनमें (१) सर्वास्तिवाद और (२) सौत्रान्तिक दर्शन तो पुराने अठारह निकायोंसे संबध रखते थे, बाकी (३) योगाचार और (४) माध्यमिक अठारह निकायोंसे बहुत पीछे ईसाकी

^१ देखो वहीं, पृ० १२६, टिप्पणी भी ।

पहिली सदीमें आदिम रूपमें आए । इनके विकासके क्रमके वारेमें हम "महायान बौद्ध धर्मकी उत्पत्ति"में लिख चुके हैं । महासाधिकोंमें एक निकायका नाम था चैत्यवाद, जिनका केन्द्र आन्ध्र-साम्राज्यमें धान्यकटकका महाचैत्य (=महास्तूप) था, इसीसे इनका नाम ही चैत्यवादी पड़ा । आन्ध्र साम्राज्यके पच्छिमी भाग (वर्तमान महाराष्ट्र) में साम्मितीय निकायका जोर था । इन्हीं दोनों निकायोंसे आगे चलकर महायानका विकास निम्न प्रकार हुआ—^१

ई० पू० ३ सदी साम्मितीय=चैत्यवादी (महासाधिक)

↓
अन्धक (=आन्ध्रवाले)

ई० पू० १ सदी	वैपुल्य	पूर्वशैलीय	अपरशैलीय	राजगिरिक	सिद्धार्थक
--------------	---------	------------	----------	----------	------------

ईसवी १ सदी

↓
महायान

योगाचारका जवर्देस्त समर्थक "लकावतार-सूत्र" वैपुल्यवादी पिटकसे सबध रखता है । नागार्जुनके माध्यमिक (=शून्य) वादके समर्थनमें प्रज्ञापारमिताए तथा दूसरे सूत्र रचे गये, किन्तु नागार्जुनको अपने दर्शनकी पुष्टिके लिए इनकी जरूरत न थी, उन्होंने तो अपने दर्शनको प्रतीत्य-समुत्पाद (-विच्छिन्न=प्रवाहरूपेण उत्पत्ति) पर आधारित किया था ।

कथावत्थुके "अर्वाचीन" निकायोंमें हमने उत्तरापथक और हेतुवादका भी नाम पड़ा है । उत्तरापथक कश्मीर-गंधारका निकाय था इसमें सन्देह नहीं । किन्तु हेतुवादके स्थानके वारेमें हमें मालूम नहीं । अफलातूँके विज्ञानवादको प्रतीत्य-समुत्पादसे जोड़ देनेपर वह आसानीसे योगाचार विज्ञानवाद बन जाता है, किन्तु अभी हमारे पास इससे अधिक प्रमाण नहीं

^१ वहीँ, पृ० १२७

है, कि उसके दार्शनिक असगका जन्म और कर्म स्थान पेशावर (गधार) था। नागार्जुनके बाद बौद्धदर्शनके विकासमें सबसे जवर्दस्त हाथ असग और वसु-बन्धु इन दो पठान-भाइयोका था। नागार्जुनसे एक शताब्दी पहिलेके जवर्दस्त बौद्ध विचारक अश्वघोषको यदि हम लें, तो उनका भी कर्मक्षेत्र पेशावर (गधार) ही मालूम होता है। इससे भी बौद्ध दर्शनपर यूनानी प्रभावका पड़ना जरूरी मालूम होता है। अश्वघोषको महायानी अपने आचार्योंमें शामिल करते हैं, और इसके सबूतमें “महायानश्रद्धोत्पाद” ग्रंथको उनकी कृतिके तौरपर पेश करते हैं; किन्तु जिन्होंने “बुद्धचरित”, “सौन्दरानन्द”, “सारिपुत्त-प्रकरण” जैसे काव्य नाटकोको पढा है, तिब्बती भाषामें अनूदित उनके सर्वास्तिवादी सूत्रोपर व्याख्या देखी है, और जो “सर्वास्तिवादी आचार्यों”को चैत्य बनाकर अर्पित करनेवाले तथा त्रिपिटककी व्याख्या (“विभाषा”)केलिए सर्वास्तिवादी आचार्योंकी परिपक्व बुलानेवाले महाराज कनिष्कपर विचार करते हैं, वह अश्वघोषको सर्वास्तिवादी^१ स्थविर छोड़ दूसरा कह नहीं सकते।

अस्तु ! यूनानी तथा शक-कालके इन बौद्ध प्राचीन निकायोपर यदि और रोशनी डाली जा सके; तो हमें उन्हीके नहीं, भारतीय दर्शनके एक भारी विकासके इतिहासके बारेमें बहुत कुछ मालूम हो सकेगा। किन्तु, चीनी तिब्बती अनुवाद, तथा गोवीकी मरुभूमि हमारी इस विषयमें कितनी मदद कर सकती है, यह आगेके अनुसन्धानके विषय हैं। अभी हमें इससे ज्यादा नहीं कहना है कि भारतीय और यूनानी विचारधाराका जो समागम गधारमें हो रहा था, उसमें अश्वघोष अपने आधुनिक ढंगके काव्यों और नाटकोको ही नहीं बल्कि नवीन दर्शनको भी यूनानसे मिलानेवाली कड़ी थे। उनसे किसी तरह नागार्जुनका संबंध हुआ।

^१ पौड-खड् (तिब्बत)में सुरक्षित एक संस्कृत ताल-पत्रकी पुस्तककी पुष्पिकामें अश्वघोषको सर्वास्तिवादी भिक्षु भी लिखा मिला है। (देखो J. B. O. R. S. में मेरे प्रकाशित सूचीपत्रोंको)।

फिर नागार्जुनने वह दर्शन-चक्रप्रवर्तन किया, जिसने भारतीय दर्शनोको एक अभिनव मुव्यवस्थित रूप दिया ।

३. नागार्जुन (१७५ ई०) का शून्यवाद (१) जीवन—नागार्जुनका जन्म विदर्भ (=वराह)में एक ब्राह्मणके घर हुआ था । उनके वाल्यके वारेमें हम अनुमान कर सकते हैं, कि वह एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे, ब्राह्मणोके ग्रंथोका गम्भीर अध्ययन किया था । भिक्षु बननेपर उन्होंने बौद्ध ग्रंथोका भी उसी गम्भीरताके साथ अध्ययन किया । आगे चलकर उन्होंने श्रीपर्वत (=नागार्जुनीकोडा, गुन्टूर)को अपना निवास-स्थान बनाया, जो कि उनकी ख्याति, तथा समय बीतनेके साथ गढे जानेवाले पैवारोके कारण सिद्ध-स्थान बन गया । नागार्जुन वैद्यक और रसायन शास्त्रके भी आचार्य बतलाये जाते हैं । उनका “अष्टागहृदय” अब भी तिब्बतके वैद्योकी सबसे प्रामाणिक पुस्तक है । किन्तु नागार्जुनकी सिद्धाई तथा तन्त्र-मन्त्रके बनाने बढानेकी बातें जो हमें पीछेके बौद्ध साहित्यमें मिलती हैं, उनसे हमारे दार्शनिक नागार्जुनका कोई सबध नहीं ।

नागार्जुन आन्ध्रराजा गौतमीपुत्र यज्ञश्री (१६६-१६६ ई०) के सम-कालीन थे, विन्टरनिट्ज^१का यह मत युक्तियुक्त मालूम होता है ।

नागार्जुनके नामसे वैसे बहुतसे ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, किन्तु उनकी असली कृतियाँ हैं—

(१) माध्यमिककारिका, (२) युक्तिपष्ठिका, (३) प्रमाणविध्वसन, (४) उपायकौशल्य, (५) विग्रहव्यावर्त्तनी^२ ।

इनमें सिर्फ दो—पहिली और पाँचवी ही मूल सस्कृतमें उपलब्ध हैं ।

(२) दार्शनिक विचार—नागार्जुनने विग्रह व्यावर्त्तनीमें विरोधी

^१History of Indian literature, Vol.II, pp. 346-48.

^२Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna, Vol. XXIII में मेरे द्वारा संपादित ।

तर्कोंका खडन करके कान्टके वस्तु-सारसे उलटे वस्तु-शून्यता—यस्तुओंके भीतर कोई स्थिर तत्त्व नहीं, वह विच्छिन्न प्रवाह मात्र है—सिद्धि की है।

(क) शून्यता—नागार्जुनको कारिका शैलीका प्रवर्तक कहा जाता है। कारिकामे पद्यकी-सी स्मरण करने, तथा सूत्रकी भाँति अधिक बातोंको थोड़े शब्दोंमें कहनेकी सुविधा होती है। कमसे कम नागार्जुनके तीन ग्रंथ (१, २, ५) कारिकाओंमें ही हैं। “विग्रहव्यावर्त्तनी”में ७२ कारिकाएँ हैं, जिनमें अन्तिम दो माहात्म्य और नमस्कार श्लोक हैं, इसलिए मूलग्रंथ सत्तर ही कारिकाओंका हुआ। वह शून्यतापर है, इसलिए जान पड़ता है विग्रह-व्यावर्त्तनका ही दूसरा नाम “शून्यता सप्तति” है। इन कारिकाओंपर आचार्यने स्वयं सरल व्याख्या की है।

नागार्जुनने ग्रंथके आदिमें नमस्कार श्लोक और ग्रंथ-प्रयोजन नहीं दिया है, जो कि पीछेके बौद्ध अबौद्ध ग्रंथोंमें सर्वमान्य परिपाटीसी बन गई देखी जाती है। नागार्जुनने ७१वीं कारिकामें शून्यताका माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है—

“जो इस शून्यताको समझ सकता है, वह सभी अर्थोंको समझ सकता है।

जो शून्यताको नहीं समझता, वह कुछ भी नहीं समझ सकता ॥”^१

इसकी व्याख्यामें आचार्यने बतलाया है, कि जो शून्यताको समझता है, वह प्रतीत्य-समुत्पाद (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पत्ति)को समझ सकता है, प्रतीत्य-समुत्पाद समझनेवाला चारों आर्यसत्त्वोंको समझ सकता है। चारों सत्त्वोंके समझनेपर उसे तृष्णा-निरोध (=निर्वाण) आदि पदार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है। प्रतीत्य-समुत्पाद जाननेवाला जान सकता है कि क्या धर्म है, क्या धर्मका हेतु और क्या धर्मका फल है। वह जान सकता है कि अधर्म, अधर्म-हेतु, अधर्म-फल क्या है, क्लेश (चित्तमल), क्लेश-हेतु, क्लेश-वस्तु क्या है। जिसे यह सब मालूम है, वह जान सकता है कि क्या है सुगति या दुर्गति, क्या है सुगति-दुर्गतिमें जाना, क्या है सुगति-

^१ “प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः ।

प्रभवति न तस्य किञ्चित् न भवति शून्यता यस्य ॥”

दुर्गतिमें जानेका मार्ग, क्या है सुगति-दुर्गतिसे निकलना तथा उसका उपाय ।

शून्यतासे नागार्जुनका अर्थ है, प्रतीत्य-समुत्पाद^१—विश्व और उसकी सारी जड़-चेतन वस्तुएँ किसी भी स्थिर अचल तत्त्व (=आत्मा, द्रव्य आदि) से विलकुल शून्य हैं । अर्थात् विश्व घटनाएँ हैं, वस्तु समूह नहीं । आचार्यने अपने ग्रंथकी पहिली बीस कारिकाओंमें पूर्वपक्षीके आक्षेपोंको दिया है, और ग्रंथके उत्तरार्द्धमें उसका उत्तर देते हुए शून्यताका समर्थन किया है । सक्षेपमें उनकी तर्कप्रणाली इस प्रकार है—

पूर्वपक्ष—(१) वस्तुसारसे इन्कार—अर्थात् शून्यवाद ठीक नहीं है, क्योंकि (i) जिन शब्दोंको तुम युक्तिके तौरपर इस्तेमाल करते हो, वह भी शून्य—अ-सार—होगे; (ii) यदि नहीं, तो तुम्हारी पहिली बात—सभी वस्तुएँ शून्य हैं—भूठी पड़ेगी, (iii) शून्यताको सिद्ध करनेकेलिए कोई प्रमाण नहीं है ।

(२) सभी भाव (=वस्तुएँ) वास्तविक हैं; क्योंकि, (i) अच्छे बुरेके भेदको सभी स्वीकार करते हैं, (ii) जो वस्तु है नहीं उसका नाम ही नहीं मिलता, (iii) वास्तविकताका प्रतिषेध युक्तिसिद्ध नहीं; (iv) प्रतिषेध्यको भी सिद्ध नहीं किया जा सकता ।^१

उत्तरपक्ष—(१) सभी भावों (=सत्ताओं)की शून्यता या प्रतीत्य-समुत्पाद (=विच्छिन्न प्रवाहके रूपमें उत्पत्ति) सिद्ध है, क्योंकि, (1) विश्वकी अवास्तविकताका स्वीकार, शून्यता सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं है, (ii) इसलिए वह हमारी प्रतिज्ञाके विरुद्ध नहीं; (iii) जिन प्रमाणोंसे भावोंकी वास्तविकता सिद्ध की जा सकती है, उन्हींको सिद्ध नहीं किया जा सकता—
(a) न प्रमाण दूसरे प्रमाणसे सिद्ध किया जा सकता क्योंकि ऐसी अवस्था

^१ विग्रहव्यावर्त्तनी २२—“इह हि यः प्रतीत्य भावानां भावः सा शून्यता । कस्मात् ? निः स्वभावत्वात् । ये हि प्रतीत्य समुत्पन्ना भावास्ते न सस्वभावा भवन्ति स्वभावाभावात् । कस्माद् ? हेतुप्रत्ययापेक्षत्वात् । यदि हि स्वभावतो भावा भवेयुः । प्रत्याख्यायापि हेतुप्रत्ययं भवेयुः ।”

में वह प्रमाण नहीं प्रमेय (= जिसे अभी प्रमाणसे सिद्ध करना है) हो जायगा, (b) वह आगकी भाँति अपनेको सिद्ध कर सकता है; (c) न वह प्रमेयसे सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि प्रमेय तो खुद ही सिद्ध नहीं, साध्य है, (d) न वह संयोग (= इत्तिफाक) से सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि संयोग कोई प्रमाण नहीं है।

(२) भावो (= सत्ताओ) की शून्यता सत्य है; क्योंकि (i) यह अच्छे बुरेके भेदके खिलाफ नहीं है; वह भेद तो स्वयं प्रतीत्य-समुत्पादके कारण ही है। यदि प्रतीत्य समुत्पादके आधारपर नहीं बल्कि स्वतः परमार्थ रूपेण अच्छे बुरेका भेद हो, तो वह अचल एकरस है, फिर ब्रह्मचर्य आदिके अनुष्ठान द्वारा इच्छानुकूल उसे बदला नहीं जा सकता; (ii) शून्यता होनेपर नाम नहीं हो सकता, यह भी ख्याल गलत है; क्योंकि नामको हम सद्भूत नहीं असद्भूत मानते हैं। सत् (= स्थिर, अविकारी, वस्तुसार) का ही नाम हो, असत्का नहीं, यह कोई नियम नहीं; (iii) प्रतिषेध नहीं सिद्ध किया जा सकता यह कहना गलत है, क्योंकि अप्रतिषेधको सिद्धको करनेके लिए प्रमाण आदिकी जरूरत पड़ेगी।

अक्षपादके न्यायसूत्रका प्रमाण-सिद्धि प्रकरण तथा विग्रह-व्यावर्त्तिनी एक ही विषयके पक्ष प्रति-पक्षमें है। हम अन्यत्र^१ बतला चुके हैं, कि अक्षपादन अपने न्यायसूत्रमें नागार्जुनके उपरोक्त मतका खंडन किया है।

पुस्तकको समाप्त करते हुए नागार्जुनने कहा है—

“जिसने शून्यता प्रतीत्य-समुत्पाद और अनेक-अर्थोंवाली मध्यमा प्रतिपद (= बीचके मार्ग) को कहा, उस अप्रतिम बुद्धको प्रणाम करता हूँ।”^२

^१ विग्रहव्यावर्त्तनीकी भूमिका (Preface) में हम बतला आये हैं कि अक्षपादने नागार्जुनके इसी मतका खंडन किया है।

^२ वि० व्या० ७२—

“यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमनेकार्था ।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसंबुद्धम् ॥”

(a) प्रमाण-विध्वंसनमें नागार्जुनने प्रमाणवादका खंडन किया है, नागार्जुन प्रमाणवादका खंडन करते भी परमार्थके अर्थमें ही उसका खंडन करते हैं, व्यवहार-सत्यमें वह उससे इन्कार नहीं करते । लेकिन प्रमाण जैसा प्रबल खंडन उन्होंने अपने ग्रंथोंमें किया, उसका परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक दर्शन व्यवहार-सत्यवादी वस्तुस्थितिपोषक दर्शन होनेकी जगह सर्वध्वंसक नास्तिवाद बन गया^१ । “प्रमाण-विध्वंसन”में अक्षपादकी तरह ही प्रमाण, प्रमेय आदि अठारह पदार्थोंका सक्षिप्त वर्णन है । इसी तरह उपाय-कौशल्यमें भी शास्त्रार्थ-सवधी वातो—निग्रह-स्थान, जाति आदि—के बारेमें कहा गया है, जो कि हमें अक्षपादके सूत्रोंमें भी मिलता है । उपाय-कौशल्यका अनुवाद चीनी-भाषामें ४७२ ई०में हुआ था^२ । इनके बारेमें हम यही कह सकते हैं कि अनुयायियोंमेंसे किसीने दूसरेके ग्रंथसे लेकर इसे अपने आचार्यके ग्रंथमें जोड़ दिया है ।

(ख) माध्यमिक-कारिकाके विचार—दर्शनकी दृष्टिसे नागार्जुनकी कृतियोंमें विग्रह-व्यावर्त्तनी और माध्यमिक-कारिकाका ही स्थान ऊँचा है । नागार्जुनका शून्यतासे अभिप्राय है, प्रतीत्य-समुत्पाद, यह हम “विग्रह व्यावर्त्तनी”में देख आये हैं । नागार्जुन प्रतीत्य-समुत्पादके दो अर्थ लेते हैं—(१) प्रत्यय (=हेतु या कारण)से उत्पत्ति, “सभी वस्तुएँ प्रतीत्य समुत्पन्न हैं”का अर्थ है, सभी वस्तुएँ अपनी उत्पत्तिमें=अपनी सत्ताको पानेकेलिए दूसरे प्रत्यय या हेतुपर आश्रित (=पराश्रित) हैं । (२) प्रतीत्य-समुत्पादका दूसरा अर्थ क्षणिकता है, सभी वस्तु क्षणके बाद नष्ट हो जाती हैं, और उनके बाद दूसरी नई वस्तु या घटना क्षण भरके लिए आती है, अर्थात् उत्पत्ति विच्छिन्न-प्रवाह-सी है । प्रतीत्य-समुत्पाद-को ही मध्यम-मार्ग कहा जाता है, यह कह चुके हैं, और यह भी कि बुद्ध न आत्मवादी थे न भौतिकवादी, बल्कि उनका रास्ता इन दोनोंके बीचका (=मध्यम-मार्ग) था—वह “विच्छिन्न प्रवाह”को मानते थे ।

^१ सर्वदर्शन-संग्रह, बौद्ध-दर्शन ।

^२ Nanjio, 1257.

आत्मवादियोंकी सतत विद्यमानताके विरुद्ध उन्होंने विच्छिन्न या प्रतीत्य-को रखा, और भौतिकवादियोंके सर्वथा उच्छेद (=विनाश)के विरुद्ध प्रवाहको रखा ।

पराश्रित उत्पादके अर्थको लेकर नागार्जुन सावित्त करना चाहते हैं, कि जिसकी उत्पत्ति, स्थिति या विनाश है, उसकी परमार्थ सत्ता कभी नहीं मानी जा सकती ।

माध्यमिक दर्शन वस्तुसत्ताके परमार्थ रूपपर विचार करते हुए कहता है—

“न सत् है, न अ-सत् है, न सत्-और-अ-सत् दोनों है, न सत्-असत्-दोनों नहीं है ।”

“कारक है, यह कर्मके निमित्त (=प्रत्यय)से ही कह सकते हैं, कर्म है यह कारकके निमित्तसे; यह छोड़ दूसरा (सत्ताकी) सिद्धिका कारण हम नहीं देखते हैं ।”^१

इस प्रकार कारक और कर्मकी सत्यता अन्योन्याश्रित है, अर्थात् स्वतंत्र रूपसे दोनोंमे एककी भी सत्ता सिद्ध नहीं है । फिर स्वयं असिद्ध वस्तु दूसरेको क्या सिद्ध करेगी ? इसी न्यायको लेकर नागार्जुन कहते हैं, कि किसीकी सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती—सत्ता और असत्ता भी इसी तरह एक दूसरेपर आश्रित है, इसलिए ये अलग-अलग, दोनों या दोनोंके रूपमें भी नहीं सिद्ध किये जा सकते ।

कर्त्ता और कर्मका निषेध करते हुए नागार्जुन फिर कहते हैं—

“सत्-रूप कारक सत्-रूप कर्मको नहीं करता, (क्योंकि) सत्-रूपसे क्रिया नहीं होती, अतः कर्मको कर्त्ताकी जरूरत नहीं ।

सद्-रूपकेलिए क्रिया नहीं, अतः कर्त्ताको कर्मकी जरूरत नहीं ।”^२

इस प्रकार परस्पराश्रित सत्तावाली वस्तुओंमे कर्त्ता, कर्म, कारण, क्रियाको सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

^१ माध्यमिक-कारिका ६२

^२ वहीं ५८, ५९

“कहीं भी कोई सत्ता न स्वत है, न परत, न स्वत परत दोनों, और न विना हेतुके ही है ।”

कार्य कारण सबधका खडन करते हुए नागार्जुनने लिखा है—

“यदि पदार्थ सत् है, तो उसकेलिए प्रत्यय (=कारण)की जरूरत नहीं । यदि अ-सत् है तो भी उसकेलिए प्रत्ययकी जरूरत नहीं ।

(गदहेके सीगकी भाँति)अ-सत् पदार्थकेलिए प्रत्ययकी क्या जरूरत ?

सत् पदार्थकी (अपनी सत्ताकेलिए) प्रत्ययकी क्या जरूरत ?”

उत्पत्ति, स्थिति और विनाशको सिद्ध करनेकेलिए कार्य-कारण, सत्ता-असत्ता आदिके विवेचनमें पडकर आखिर हमें यही मालूम होता है कि वह परस्परश्रित है, ऐसी अवस्थामें उन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता । बौद्ध-दर्शनमें पदार्थोंको सस्कृत (=कृत) और अ-सस्कृत (अ-कृत) दो भागोंमें बाँटकर सारी सत्ताओंको सस्कृत और निर्वाणको असस्कृत कहा गया है । नागार्जुनने इस सस्कृत असस्कृत विभागपर प्रहार करते हुए कहा है—

“उत्पत्ति-स्थिति-विनाशके सिद्ध होनेपर सस्कृत नहीं (सिद्ध) होगा । सस्कृतके सिद्ध हुए विना अ-सस्कृत कैसे सिद्ध होगा ?”

जगत् और उसके पदार्थोंकी मरुमरीचिका बतलाते हुए नागार्जुनने लिखा है—

“(रेगिस्तानकी) लहरको पानी समझकर भी यदि वहाँ जाकर पुरुष ‘यह जल नहीं है’ समझे तो वह मूढ़ है । उसी तरह मरीचि समान (इस) लोकको ‘है’ समझनेवालेका ‘नहीं है’ यह मोह भी मोह होनेसे युक्त नहीं है ।”

जिस तरह पराश्रित उत्पाद (=प्रतीत्य-समुत्पाद) होनेसे किसी वस्तुको सिद्ध, असिद्ध, सिद्ध-असिद्ध, न-सिद्ध-न-अ-सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसी तरह प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ विच्छिन्न प्रवाह रूपसे उत्पाद लेनेपर वहाँ

भी कार्य, कारण, कर्म, कर्ता आदि व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि उनमेंसे एक वस्तु दूसरेके विलकुल उच्छिन्न हो जानेपर अस्तित्वमें आती है ।

(ग) शिक्षार्थे—आन्ध्रवशी राजाओंकी पदवी शातवाहन (शालि-वाहन भी) होती थी । तत्कालीन शातवाहन राजा (यज्ञश्री गीतमी पुत्र) नागार्जुनका “सुहृद्” था । यह सुहृद् राजा साधारण नहीं भारी राजा था, यह नागार्जुनसे चार सदी बाद हुए वाणके हर्षचरित^१के इस वाक्यसे पता लगता है—“नागार्जुन नामक भिक्षुने उस एकावली (हार)को नागराजसे माँगा और पाया भी । (फिर) उसे (अपने) सुहृद् तीन समुद्रोंके स्वामी शातवाहन नामक नरेन्द्रको दिया ।”

यहाँ शातवाहनको तीनो समुद्रो (अरब सागर, दक्षिण-भारत सागर, बंग-खाड़ी) का स्वामी तथा नागार्जुनका सुहृद् बतलाया गया है । नागार्जुन जैसा प्रतिभाशाली विद्वान् जिसके राज्य (=विदर्भ)में पैदा हुआ तथा रहता हो, वह उससे क्यों नहीं सौहार्द प्रदर्शन करेगा ? नागार्जुनने अपने सुहृद् शातवाहन राजाको एक शिक्षापूर्ण पत्र “सुहृद्-लेख” लिखा था, जिसका अनुवाद तिब्बती तथा चीनी दोनों भाषाओंमें अब भी सुरक्षित है । इस लेखमें नागार्जुनने जो शिक्षाएं अपने सुहृद्को दी हैं, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

“६. धनको चंचल और असार समझ धर्मानुसार उसे भिक्षुओं, ब्राह्मणों, गरीबों और मित्रोंको दो, दानसे बढ़कर दूसरा मित्र नहीं है ।”

^१ वैस राजपूत अपनेको सालवाहन वंशज तथा पैठन नगरसे आया बतलाते हैं । पैठन या प्रतिष्ठान (हैदराबाद रियासत) नगर शातवाहन राजाओंकी राजधानी थी ।

“... तामेकावलीं ... तस्मान्नागराजात् नागार्जुनो नाम
भिक्षुरभिक्षत् लेभे च । . . . त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय
सुहृदे स ददौ ताम् ।”

—हर्षचरित ७

“७ निर्दोष, उत्तम, अमिश्रित, निष्कलक, शील (=सदाचार) को (कार्यरूपमें) प्रकट करो; सभी प्रभुताओंका आधार शील है, जैसे कि चराचरका आधार धरती है।

“२१ दूसरेकी स्त्रीपर नज़र न दीडाओ, यदि देखो तो आयुके अनुसार उसे मा, वहिन या बेटीकी तरह समझो।

“२६ तुम जगको जानते हो; ससारकी आठ स्थितियों—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—में समान भाव रखो, क्योंकि वह तुम्हारे विचारके विषय नहीं है।

“३७ किन्तु उस एक स्त्री (अपनी पत्नी) को परिवारकी अधिष्ठात्री देवीकी भाँति सम्मान करना, जो कि वहिनकी भाँति मजुल, मित्रकी भाँति विजयिनी, माताकी भाँति हितैषिणी, सेवककी भाँति आज्ञाकारिणी है।

“४६ यदि तुम मानते हो कि ‘मैं रूप (=भौतिकतत्त्व) नहीं हूँ’, तो इससे तुम समझ जाओगे कि रूप आत्मा नहीं है, आत्मा रूपमें नहीं है, रूप आत्मा (=मेरे) में नहीं बसता। इसी तरह दूसरे (वेदना आदि) चार स्कन्धोंके बारेमें भी जानोगे।

“५० ये स्कन्ध न इच्छासे, न कालमें, न प्रकृतिसे, न स्वभावसे, न ईश्वरसे, और न बिना हेतुके पैदा होते हैं, समझो कि वे अदिद्या और तृष्णासे उत्पन्न होते हैं।

“५१. जानो कि धार्मिक क्रिया-कर्म (=शीलव्रतपरामर्श) भूटा दर्शन (=सत्कायदृष्टि) और सशय (विचिकित्सा) में आसक्ति तीन वेडियाँ (=संयोजन)^१ हैं। ”

नागार्जुनका दर्शन—शून्यवाद—वास्तविकताका अपलाप करता है। दुनियाको शून्य मानकर उसकी समस्याओंके अस्तित्वमें इन्कार करनेकेलिए इससे बढ़कर दर्शन नहीं मिलेगा? इसीलिए आश्चर्य

^१ देखो संगीति-परियायसुत्त (दी० नि०, ३।१०) “बुद्धचर्या”, पृष्ठ ५६०

नही, यदि ऐसा दार्शनिक सम्राट् यज्ञश्री गौतमीपुत्रका घनिष्ठ मित्र
(? सुहृद्) था ।

४. योगाचार और दूसरे बौद्ध-दर्शन माध्यमिक और योगाचार महायानसे सबंध रखनेवाले दर्शन है, जब कि सर्वास्तिवाद और सौत्रान्तिक हीनयान (=स्थविरवाद) से सबंध रखते हैं । इन चारों बौद्ध दर्शनोको यदि आकाशसे धरतीकी ओर लाये तो वह इस प्रकार मालूम होते हैं—

वाद	नाम	आचार्य
१. शून्यवाद	माध्यमिक	नागार्जुन, आर्यदेव, चंद्रकीर्ति, भाव्य, बुद्धपालित
२. विज्ञानवाद	योगाचार	असग, वसुवधु, दिङ्- नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित
३. बाह्य-अर्थवाद	सौत्रान्तिक	
४. बाह्य-आभ्यन्तर-अर्थवाद	सर्वास्तिवाद	सघभद्र, वसुवधु (का अभिधर्मकोश)

योगाचार-दर्शनके मूल बीज वैपुल्यसूत्रोमे मिलते हैं । उसके लंकावतार, सन्धि-निर्मोचन, आदि सूत्र बाह्य जगत्के अस्तित्वसे इन्कार करते हुए विज्ञान (=अभौतिक तत्त्व, मन) को एकमात्र पदार्थ मानते हैं । “जो क्षणिक नहीं वह सत् ही नहीं” इस सूत्रका अपवाद बौद्धदर्शनमें हो नहीं सकता, इसलिए योगाचार विज्ञान भी क्षणिक है । दूसरी कितनीही विचार-धाराओकी भाँति योगाचारके प्रथम प्रवर्तकके वारेमे भी हमें कुछ नहीं मालूम है । चौथी सदी तक यह दर्शन जिस किसी तरह चलता रहा, किन्तु चौथी सदीके उत्तरार्द्धमें असग और वसुवधु दो दार्शनिक भाई पेशावरमे पैदा हुए, जिनके प्रौढ ग्रंथोंके कारण यह दर्शन अत्यन्त प्रबल और प्रसिद्ध हो गया ।

योगाचार योगावचर (=योगी) शब्दसे निकला है, जो कि पुराने पिटकमे भी मिलता है, किन्तु यहाँ यह दार्शनिक सम्प्रदायके नामके तौर पर प्रयुक्त होता है । इस नामके पड़नेका एक कारण यह भी है कि योगाचार

दर्शन-प्रतिपादक आर्य असगका मौलिक महान् ग्रन्थ “योगाचारभूमि”^१ है। असगके वारेमे हम आर्य कहेंगे। यहाँ नागार्जुन और उनसे पहिले जैसा विज्ञानवाद माना जाता था और जिसपर गधार-प्रवासी यूनानियो द्वारा अफलातूनी दर्शनका प्रभाव जरूर पडा था, उसके वारेमें कुछ कहते हैं।

“आलय-विज्ञान (समुद्र) से प्रवृत्तिविज्ञानकी तरग उत्पन्न होती है।”^२

विश्वके मूल तत्त्वको इस दर्शनकी परिभाषामे आलयविज्ञान कहा गया है। विज्ञान-समुद्रसे जो पाँचो इन्द्रियाँ और मनके—ये छै विज्ञान उत्पन्न होते हैं, उन्हे प्रवृत्ति-विज्ञान कहते हैं।^३—

“जैसे पवन-रूपी प्रत्यय (=हेतु) से प्रेरित हो समुद्रसे नाचती हुई तरगे पैदा होती है, और उनके (प्रवाहका) विच्छेद नही होता। उसी तरह विषय-रूपी पवनसे प्रेरित चित्र-विचित्र नाचती हुई विज्ञान-तरगोके साथ आलय समुद्र सदा क्रियापरायण रहता है।”

अर्थात् भीतरी ज्ञेय पदार्थ (=अभौतिक विज्ञान) पदार्थ है, वही बाहरकी तरह दिखलाई पडता है। स्कध, प्रत्यय (=हेतु), अणु, भौतिक तत्त्व, सभी विज्ञान मात्र है। यह आलयविज्ञान भी प्रतीत्य-समुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न), क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। क्षणिकताके कारण उसे हर वक्त नया रूप धारण करते रहना पडता है, जिसके ही कारण यह जगत्-वैचित्र्य है।

सर्वास्तिवादका वही सिद्धान्त है, जिसे हम बुद्धके दर्शनमें बतला आये हैं, वह बाह्य रूप, आन्तरिक विज्ञान दोनोंकी प्रतीत्य-समुत्पन्न सत्ताको स्वीकार करता है।

सौत्रान्तिक अपनेको बुद्धके सूत्रान्तो (सूत्रो या उपदेशो) का अनुयायी बतलाते हैं। वह बाह्य विज्ञानवादसे उलटे बाह्यार्थवादी है अर्थात् क्षणिक रूप ही मौलिक तत्त्व है।

^१ देखो “दक्षिणदिग्दर्शन”, पृष्ठ ७०४-३७

^२ लंकावतारसूत्र ५१

^३ वही

पंचम अध्याय

बौद्ध दर्शनका चरम विकास (६०० ई०)

असंग (३५० ई०)

भारतीय दर्शनको अपने अन्तिम विकासपर पहुँचानेके लिए पहिला जवर्दस्त प्रयत्न असंग और वसुवधु दो पेगावरी पठान भाइयोने किया। वडे भाई असंगने योगाचार भूमि^१, उत्तरतन्त्र^१ जैसे ग्रन्थोको लिखकर विज्ञानवादका समर्थन किया। छोटे भाई वसुवधुकी प्रतिभा और भी बहु-मुखी थी। उन्होने एक ओर वैभाषिक-सम्मत तथा बुद्धके दर्शनसे बहु-सम्मत अपने सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ अभिधर्मकोष तथा उसपर एक बड़ा भाष्य^१ लिखा; दूसरी ओर विज्ञानवादके संबंधमे विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकी विशिष्टा (बीस कारिकाये) और त्रिशिका (तीस कारिकायें) लिख अपने वडे भाईके कामको और सुव्यवस्थित रूपमे दार्शनिकोंके सामने पेग किया। तीसरा काम उनका सबसे महत्त्वपूर्ण था दादविधान नामक न्याय-ग्रन्थको लिख, भारतीय न्यायशास्त्रको नागार्जुनकी पैनी दृष्टिसे मिली प्रेरणाको और नियमबद्ध करना, और सबसे बड़ी बात थी “भारतीय मध्ययुगीन न्यायके पिता” दिग्नाग जैसे शिष्यको पढाकर अब तकके किये गये प्रयत्नको एक वडे प्रवाहके रूपमे ले जानेके लिए तैयार करना।

बौद्धोंके विज्ञानवाद—क्षणिक विज्ञानवाद—के शक्राचार्य और उनके दादा गुरु गौडपाद कितने ऋणी हैं, यह हम बतलानेवाले हैं। वस्तुतः गौड-

^१ ये दोनों ग्रंथ चीनी और तिब्बती अनुवादके रूपमें पहिले भी मौजूद थे, किन्तु उनके संस्कृत मूल मुझे तिब्बतमें मिले, उनकी फोटो और लिखित प्रतियाँ भारत आ चुकी हैं।^१ अभिधर्मकोशको अपनी वृत्तिके साथ मैं पहिले संपादित कर चुका हूँ।

पादकी माडूक्य-कारिका “अलात शान्ति प्रकरण” प्रच्छन्न नहीं प्रकट रूपमें एक बौद्ध विज्ञानवादी ग्रंथ है। बौद्ध विज्ञानवाद और असगका एक दूसरे-के साथ कितना मवध है, यह इसीसे मालूम हो सकता है, कि विज्ञानवाद अपने नामकी अपेक्षा “योगाचार दर्शन” के नामसे ज्यादा प्रसिद्ध है, और योगा-चार शब्द असगके सबसे बड़े ग्रंथ “योगाचार-भूमि” से लिया गया है।

१-जीवनी

असगका जन्म पेगावरके एक ब्राह्मण (पठान) कुलमें हुआ था। उनके छोटे भाई वसुवधु बौद्ध जगत्के प्रमुख दार्शनिकोंमें थे। वसुवधुके कितने ही मौलिक ग्रंथ कालकवलित हो गये। उनका अभिधर्मकोश बहुत प्रौढ़ ग्रंथ है, मगर वह सर्वास्तिवाद दर्शनका एक सुश्रुतखलित विवेचन मात्र है, इसलिए हमने उसके बारेमें विशेष नहीं लिखा। वसुवधुने अभिधर्मकोश-पर विस्तृत भाष्य लिखा है, जो सौभाग्यसे तिब्बतकी यात्राओंमें मुझे मस्कृतमें मिल गया, और प्रकाशित होनेकी प्रतीक्षामें फोटो रूपमें पड़ा है। अपने बड़े भाई असगके विज्ञानवादपर “विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि” नामके “त्रिंशिका” और “त्रिंशिका” नामसे बीस और तीस कारिकावाले दो प्रकरण भी मिलकर प्रकाशित हो चुके हैं। वसुवधु “मध्यकालीन न्याय-शास्त्र” के पिता दिग्नागके गुरु थे, और उन्होंने स्वयं भी “वादविधान” नामसे न्यायपर एक ग्रंथ लिखा था, किन्तु शिष्यकी प्रतिभाके सामने गुरुकी कृतियाँ ढँक गईं। वसुवधु समुद्रगुप्तके पुत्र चद्रगुप्त (विक्रमादित्यके) अध्यापक रह चुके थे, और इस प्रकार वह ईसवी चौथी शताब्दीके उत्तरार्धमें मौजूद थे।^१

असगकी जीवनीके बारेमें हम इससे अधिक नहीं जानते कि वह योगा-चार दर्शनके प्रथम आचार्य थे, कई ग्रंथोंके लेखक, वसुवधुके बड़े भाई और पेशावरके रहनेवाले थे। वह ३५०में जरूर मौजूद रहे होंगे। यह समय नागार्जुनसे पीने दो सदी पीछे पड़ता है। नागार्जुनके ग्रंथ भारतीय न्याय-शास्त्रके प्राचीनतम ग्रंथ हैं—जहाँ तक अभी हमारा ज्ञान जाता है—लेकिन,

‘देखो मेरी “वादन्याय” और “अभिधर्मकोश” की भूमिकाएँ।

नागार्जुनको असंग-वसुवधुसे मिलनेवाली कड़ी उसी तरह हमें मालूम नहीं है, जिस तरह यूनानी दर्शनके कितने ही वादोको भारतीय दर्शनो तक सीधे पहुँचनेवाली कड़ियाँ अभी उपलब्ध नहीं हुई हैं। असंगको वादशास्त्र (= न्याय) का काफी परिचय था, यह हमें “योगाचार-भूमि” से पता लगता है।

२-असंगके ग्रंथ

महायानोत्तर तंत्र, सूत्रालकार, योगाचार-भूमि-वस्तुसंग्रहणी, बोधिसत्त्व-पिटकाववाद ये पाँच ग्रंथ अभी तक हमें असंगकी दार्शनिक कृतियोंमें मालूम हैं, इनमें पिछले दोनोका पता तो “योगाचार-भूमि” से ही लगा है। पहिले तीनो ग्रंथोके तिब्बती या चीनी अनुवादोका पहिलेसे भी पता था।

योगाचार-भूमि—असंगका यह विशाल ग्रंथ निम्न सत्रह भूमियोंमें विभक्त है—

- | | |
|-----------------------------|---------------------------------|
| १. . . विज्ञान भूमि | १० श्रुतमयी भूमि |
| २. मन भूमि | ११. चिन्तामयी भूमि |
| ३. सवितर्क-सविचारा भूमि | १२. भावनामयी भूमि |
| ४. अवितर्क-विचारमात्रा भूमि | १३. श्रावक भूमि ^१ |
| ५. अवितर्क-अविचारा भूमि | १४ प्रत्येकबुद्ध भूमि |
| ६. समाहिता भूमि | १५ बोधिसत्त्व भूमि ^१ |
| ७. असमाहिता भूमि | १६. सोपधिका भूमि |
| ८ सचित्तका भूमि | १७. निरूपधिका भूमि ^२ |
| ९ अचित्तका भूमि | |

^१ श्रावक-भूमि और बोधिसत्त्व-भूमि तिब्बतमें मिली “योगाचारभूमि” की तालपत्र पोथी (दसवीं सदी) में नहीं है। बोधिसत्त्वभूमिको प्रो० उ० वोगीहारा (जापान १९३०) प्रकाशित कर चुके हैं। अलग भी मिल चुकी है।

^२ “योगाचारभूमि” में आचार्यने किन-किन विषयोंपर विस्तृत विवेचन किया है। यह निम्न विषयसूची से मालूम हो जायेगा:—

भूमि १

§ १. (पाँच इन्द्रियोंके) विज्ञानोंकी भूमियाँ ।

§ २. पाँच इन्द्रियोंके विज्ञान (= ज्ञान

१. आँखका विज्ञान

(१) विज्ञानोंके स्वभाव

(२) उनके आश्रय (सहभू, समनन्तर, वीज)

(३) उनके आलंबन (Objects) वर्ण, संस्थान, विज्ञप्ति (=क्रिया)

(४) उनके सहाय (=सहयोगी)

(५) कर्म

(क) अपने विषयके आलंबनकी क्रिया (= विज्ञप्ति)

(ख) अपने स्वरूप (= स्वलक्षण)की विज्ञप्ति

(ग) वर्तमान कालकी विज्ञप्ति

(घ) एक क्षणकी विज्ञप्ति

(ङ) मनवाले विज्ञानकी अनुवृत्ति (=पीछे

आना)

(च) भलाई बुराईकी अनुवृत्ति

२. कानका विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ

३. घ्राणका विज्ञान (,,)

४. जिह्वाका विज्ञान (,,)

५. काया (=त्वक् इन्द्रिय)का विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ)

§ ३. पाँचों विज्ञानोंका उत्पन्न होना

§ ४. पाँचों विज्ञानोंके साथ संबद्ध चित्त

§ ५. पाँचों विज्ञानोंके सहाय आदिकी 'एक काफिलेवाला' आदि होनेकी उपमा ।

भूमि २

मनकी भूमि

§ १. मनके स्वभाव आदि

१. मनका स्वभाव

२. मनका आश्रय

३. मनका आलंबन (=विषय)

४. मनका सहाय (=सहयोगी)

५. मनके विशेष कर्म

(१) आलंबन विज्ञप्ति

(२) विशेष कर्म

(क) विषयकी विकल्पना

- (ख) उपनिध्यान
- (ग) मत्त होना
- (घ) उन्मत्त होना
- (ङ) सोना
- (च) जागना
- (छ) मूर्च्छित होना
- (ज) मूर्च्छासे उठना
- (झ) कायिक, वाचिक
काम कराना
- (ञ) विरक्त होना
- (ट) विरागका हटना
- (ठ) भली अवस्थाकी
जड़का कटना
- (ड) भली अवस्थाकी
जड़का जुड़ना

२. मनका शरीरसे च्युति और उत्पत्ति

- (१) शरीरसे च्युति (= छूटना, मृत्यु)
- (२) एक शरीरसे दूसरे शरीरके बीचकी अवस्थाका सूक्ष्मकायिक मन (=अन्तराभव)

३. दूसरे शरीरमें उत्पत्ति

- (१) उत्पत्तिवाले स्थानमें जानेकी अभिलाषा

- (२) गर्भमें प्रवेश करना
- (क) गर्भाधानमें सहायक
- (ख) गर्भाधानमें बाधक
- (a) योनिका दोष
- (b) बीजका दोष
- (c) पुरविले कर्मका दोष
- (ग) अन्तराभवकी दृष्टिमें परिवर्तन
- (घ) पापी और पुण्यात्माके जन्मकुल
- (ङ) गर्भाशयमें आलय-विज्ञान (-प्रवाह) जुड़नेका ढंग
- (च) गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ
- (a) कलल-अवस्था
- (b) अर्बुद-अवस्था
- (c) पेशी ,,
- (d) घन ,,
- (e) प्रशाख ,,
- (f) केश - रोम - नखकी अवस्था
- (g) इन्द्रियोंका प्रकट होना
- (h) स्त्री - पुरुष - लिंग प्रकट होना

(छ) शरीरमें विकार
होना

(a) रगमें विकार

(b) चमड़ेमें विकार

(c) अंगमें विकार

(ज) गर्भके स्त्री या पुरुष
होनेकी पहिचान

(३) गर्भसे निकलना

(४) शिशु-पोषण

§ ३. जगत्का संहार और प्रादुर्भाव

१. संहार (=संवर्तन)का क्रम

(१) देवताओंकी आयु

(२) कल्पका परिमाण

२. प्रादुर्भाव (=विवर्तन)

(१) भिन्न-भिन्न लोकोंका
प्रादुर्भाव

(क) ब्रह्मलोक आदिका
प्रादुर्भाव

(ख) पृथिवीका प्रादुर्भाव

(a) सुमेरु आदि ,,

(b) नरक ,,

(c) द्वीपों ,,

(d) नागलोक ,,

(e) यक्षलोक ,,

(f) वैश्रवण आदि चारों
महाराजोंका प्रादुर्भाव

(g) हिमान्यका प्रादुर्भाव

(h) अन्नवत्पत्तसर (=
मानसरोवर) ,,

(i) सुमेरुके पार्श्वों ,,

§ ४. सत्त्वोका प्रादुर्भाव

१. प्रथम कल्पके सत्त्व (=
मानव)

(१) उनके आहार

(२) मनके विकारसे आहार-
ह्रास

(३) राजाका पहिला चुनाव

२. ग्रह नक्षत्र आदिका प्रादुर्भाव

(१) सत्त्वोंके प्रकाशका लोप;
सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र

आदिका प्रादुर्भाव

(२) चन्द्रमा और सूर्यकी
गतियाँ

(३) ऋतुओंमें परिवर्तन

(४) चन्द्रमाका घटना बढ़ना

§ ५. हजार चूड़ावाला लोक
(Local Universe)

(बुद्धका क्षेत्र)

§ ६. रूप (=जट तत्त्व)

१. रूपका बीज (=मूलरूप)

२. महाभूत

३. परमाणु (=अवयव)

४. द्रव्य चौदह

५. भूतोंका साथ या अलग रहना

§ ७. चित्त

§ ८. चित्त-संबंधी (=चैतस) तत्त्व
(विज्ञानकी उत्पत्ति)

१. चैतस मनस्कार आदि

(१) उनके स्वभाव

(२) उनके कर्म

§ ९. तीन काल

(जन्म, जरा आदि)

§ १०. छ प्रकारके विज्ञान

१. विज्ञानोंके चार प्रत्यय

(१) प्रत्यय

(२) प्रत्ययोंके भेद

२. आयतनोंके छ भेद

(१) इन्द्रियोके भेद

(क) चक्षुके भेद

(ख) श्रोत्र ,,

(ग) घ्राण ,,

(घ) जिह्वा ,,

(ङ) काया ,,

(च) मन ,,

(२) आलंबनोंके छ भेद

(क) रूपके भेद

(ख) शब्द ,,

(ग) गन्ध ,,

(घ) रसके भेद

(ङ) स्पर्श ,,

(च) धर्म ,,

§ ११. नव वस्तुवाले बुद्ध-वचन

भूमि ३, ४, ५

(सवितर्क - सविचारा भूमि,

अवितर्क - विचारमात्रा भूमि,

अवितर्क-अविचारा भूमि)

(सवितर्क-सविचारा भूमि)

§ १. धातुकी प्रज्ञप्तिसे

१. धातुके प्रज्ञापन द्वारा

(१) काम (=स्थूल) धातु
(=लोक)

(२) रूप धातु

(३) आरूप्य धातु

२. परिमाणके प्रज्ञापन द्वारा

(१) शरीरका परिमाण

(२) आयुका परिमाण

३. भोगके प्रज्ञापन द्वारा

(१) दुःखभोग

(क) नरक

(a) महानरक (आठ)

(b) छोटे (=सामन्त)
नरक (चार)

(c) ठंडे नरक (आठ)

(d) प्रत्येक नरक

- (ख) तिर्यक्योनि
(ग) प्रेतयोनि
(घ) मनुष्ययोनि
(ङ) देवयोनि
- (२) सुख-भोग
(क) नरक-योनिमें
(ख) तिर्यक् (=पशु-पक्षी) योनिमें
(ग) मनुष्य-योनिमें
(चक्रवर्ती बनकर)
(घ) देव-योनिमें
(a) स्वर्गमें इन्द्र और देवपुर, उत्तरकुरु और असुर
(b) रूपलोकके देवता
(c) अरूपलोकके देवता
(३) दुःख सुख विशेष
(४) आहारभोग
(५) परिभोग
४. उपपत्ति (=जन्म) के प्रज्ञापन द्वारा
५. आत्मभाव
६. हेतु और फलकी अवस्था
(१) हेतु और फल (=कार्य) के लक्षण
(२) हेतु-प्रत्ययके अधिष्ठान
- (३) हेतु-प्रत्ययके भेद
(क) हेतुके भेद
(ख) प्रत्ययके भेद
(ग) फलके भेद
(७) हेतु-प्रत्यय-फलव्यवस्था
(क) हेतु-प्रज्ञापन
(ख) प्रत्यय-प्रज्ञापन
(ग) फल-प्रज्ञापन
(घ) हेतु-व्यवस्था
- § २. लक्षण-प्रज्ञप्तिसे
१. शरीर आदि
(१) शरीर
(२) आलंबन (=विषय)
(३) आकार
(४) समुत्थान
(५) प्रभेद
(६) विनिश्चय
(७) प्रवृत्ति
२. वितर्क-विचार गतिके भेदसे
(१) नारकोंकी गति
(२) प्रेत और तिर्यकोंकी गति
(३) देवोंकी गति
(क) कामलोकके देव
(ख) प्रयमध्यायनकी भूमि वाले देव

- § ३. योनिशोमनस्कारकी प्रज्ञप्तिसे
 १. अधिष्ठान
 २. वस्तु
 ३. एषणा
 ४. परिभोग
 ५. प्रतिपत्ति
- (१३) नास्तिकवाद (केश-कम्बल)
 (१४) अग्रवाद (ब्राह्मण)
 (१५) बुद्धिवाद (,,)
 (१६) ज्योतिषशकुन (=कौ-तुक-मंगल)वाद
- § ४. अयोनिशोमनस्कार प्रज्ञप्तिसे
 १. दूसरोंके वाद (=मत)
 (१) सद्वाद (सांख्य)
 (२) अनभिव्यक्ति-वाद (सांख्य और व्याकरण)
 (३) द्रव्यसद्वाद (सर्वास्ति-वादी)
 (४) आत्मवाद (उपनिषद्)
 (५) शाश्वतवाद (कात्यायन)
 (६) पूर्वकृत हेतुवाद (जैन)
 (७) ईश्वरादि-कर्त्तावाद (नैयायिक)
 (८) हिंसाधर्मवाद (याज्ञिक और मीमांसक)
 (९) अन्तानन्तिकवाद
 (१०) अमराविक्षेपवाद (बेल-टिपुत्त)
 (११) अहेतुकवाद (गोशाल)
 (१२) उच्छेदवाद (लोका-यत)
- § ५. संक्लेश-प्रज्ञप्तिसे
 १. क्लेश (=चित्तके मल)
 (१) क्लेशोंके स्वभाव
 (२) क्लेशोंके भेद
 (३) क्लेशोंके हेतु
 (४) क्लेशोंकी अवस्था
 (५) क्लेशोंके मुख
 (६) क्लेशोंकी अतिशयता
 (७) क्लेशोंके विपर्यास
 (८) क्लेशोंके पर्याय
 (९) क्लेशोंके आदीनव
 २. कर्म
 ३. जन्म
 (१) कर्मोंके भेद
 (२) कर्मोंकी प्रवृत्ति
- § ६. प्रतीत्यसमुत्पाद
 भूमि ६
 (समाहिता भूमि)
 § १. ध्यान
 १. नाम-गिनाई

- (१) ध्यान
- (२) विमोक्ष
- (३) समाधि
- (४) समापत्ति

२. व्यवस्थान

§ २. विमोक्ष

§ ३. समाधि

§ ४. समापत्ति

भूमि ७

(असमाहिता भूमि)

भूमि ८, ९

अचित्तका भूमि

भूमि १०

सचित्तका भूमि

(श्रुतमयी भूमि)

पाँच विद्याए-

§ १. अध्यात्मविद्या

१. वस्तुप्रज्ञप्ति

(१) सूत्र वस्तु

(२) विनय वस्तु

(३) मातृका वस्तु

२. संज्ञाभेद प्रज्ञप्ति

(१) पद

(२) आन्ति

(३) प्रपञ्च

(४) स्थिति

(५) तत्त्व

(६) शुभ

(७) वर

(८) प्रज्ञान

(९) प्रकृति

(१०) युक्ति

(११) सकेत

(१२) अभिसमय

३. बुद्ध-शासनके अर्थमें प्रज्ञप्ति

४. बुद्ध-वचनके ज्ञेयोंका अधिष्ठान

§ २. चिकित्सा विद्या

§ ३. हेतु (=वाद) विद्या

१. वाद

(१) वाद

(२) प्रतिवाद

(३) विवाद

(४) अपवाद

(५) अनुवाद

(६) अववाद

२. वादके अधिकरण

३. वादके अधिष्ठान (दम)

(१) दो प्रकारके साध्य

(२) आठ प्रकारके साधन

(क) प्रतिज्ञा

(ख) हेतु

- (ग) उदाहरण
 (घ) सारूप्य
 (a) लिंगमें सादृश्य
 (b) स्वभावमें सादृश्य
 (c) कर्ममें सादृश्य
 (d) धर्ममें सादृश्य
 (e) हेतुफल (=कार्य-कारण) में सादृश्य
 (ङ) वैरूप्य
 (च) प्रत्यक्ष
 (a) अ-परोक्ष
 (b) अनभ्यूहित अन-भ्यूह्य
 (c) अ-भ्रान्त

(भ्रान्तियाँ—संज्ञा, संख्या, संस्थान, वर्ण, कर्म, चित्त दृष्टिसे संबंध रखनेवाली)

(प्रत्यक्षके भेद—इन्द्रिय - प्रत्यक्ष, मन-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष, शुद्ध (= योगि) - प्रत्यक्ष

- (छ) अनुमान
 (a) लिंगसे
 (b) स्वभावसे
 (c) कर्मसे
 (d) धर्मसे

(e) हेतु-फल (=कार्य-कारण) से

(ज) आप्तागम (=शब्द)

४. वादके अलंकार

- (१) अपने और पराये वाद की अभिज्ञता
 (२) वाक्-कर्म सम्पन्नता (=भाषण-पटुता)

(क) अग्राम्य भाषण
 (ख) लघु (=मित)-भाषण

(ग) ओजस्वी भाषण
 (घ) पुर्वापरसंबद्ध भाषण
 (ङ) अच्छे अर्थोंवाला भाषण

(३) विशारद होना

(४) स्थिरता

(५) दाक्षिण्य (=उदारता)

५. वादका निग्रह

(१) कथात्याग

(२) कथामाद

(३) कथादोष

(क) बुरा वचन

(ख) संरब्ध (=कुपित) वचन

(ग) अ-गमक वचन

- (घ) अ-मिति वचन
(ङ) अनर्थ-युक्त वचन
(च) अ-काल वचन
(छ) अ-स्थिर वचन
(ज) अ-दीप्त वचन
(झ) अ-प्रवृद्ध वचन

६. वाद-निःसरण

- (१) गुणदोष-परीक्षा
(२) परिपत्-परीक्षा
(३) कौशल्य (==नैपुण्य)-
परीक्षा

७. वादमें उपकारक बातें

§ ४. शब्द-विद्या

१. धर्म-प्रज्ञप्ति
२. अर्थ-प्रज्ञप्ति
३. पुद्गल-प्रज्ञप्ति
४. काल-प्रज्ञप्ति
५. संख्या-प्रज्ञप्ति
६. अधिकरण-प्रज्ञप्ति

§ ५. शिल्प-कर्मस्थान विद्या

भूमि ११

(चिन्तामयी भूमि)

- § १. स्वभावशुद्धि
§ २. ज्ञेयों (==प्रमेयो) का संचय
१. सद् (वस्तु)
(१) स्वलक्षण सत्

- (२) सामान्यलक्षण सत्
(३) सकेतलक्षण सत्
(४) हेतुलक्षण सत्
(५) फल (==कार्य)-लक्षण-
सत्

२. असद् (वस्तु)

- (१) अनुत्पन्न असत्
(२) निरुद्ध असत्
(३) अन्योन्य असत्
(४) परमार्थ असत्

३. अस्तित्व

४. नास्तित्व

§ ३. धर्मोंका संचय

१. सूत्रार्थोंका संचय
२. गायार्थोंका संचय
(यहां पिटकोंकी संकड़ो गाया--
श्रोका संग्रह है)

भूमि १२

(भावनामयी भूमि)

§ १. स्थानतः संग्रह

१. भावनाके पद
२. भावना-उपनिपत्
३. योग-भावना
४. भावना-फल

§ २. अंगतः संग्रह

१. अभिनिर्वृत्ति-संपद्

२. सद्वर्त्म श्रवण-संपद

(१) ठीक उपदेश करना

(२) ठीक सुनना

(३) निर्वाण-प्रमुखता

(४) चित्त-मुक्तिको परिपक्व बनानेवाली प्रज्ञाका परिपाक

(५) प्रतिपक्ष भावना

भूमि १३

(श्रावक भूमि)

भूमि १४

(प्रत्येकबुद्ध भूमि)

§ १. गोत्र

१. मन्द-रजवाला गोत्र

२. मन्द-करुणावाला गोत्र

३. मध्य-इन्द्रियवाला गोत्र

§ २. मार्ग

§ ३. समुदागम

१. गैडेकी सींग जैसा अकेला विहरनेवाला

२. जमातके साथ विहरनेवाला

§ ४. चार

भूमि १५

(बोधिसत्त्व भूमि)

भूमि १६

(उपाधि-सहिता भूमि)

तीन प्रज्ञप्तियोंसे

१. भूमि-प्रज्ञप्ति

२. उपशम-प्रज्ञप्ति

३. उपधि-प्रज्ञप्ति

(१) प्रज्ञप्ति उपधि

(२) परिग्रह उपधि

(३) स्थिति प्रज्ञप्ति

(४) प्रवृत्ति प्रज्ञप्ति

(५) अन्तराय प्रज्ञप्ति

(६) दुःख प्रज्ञप्ति

(७) रति प्रज्ञप्ति

(८) अन्य प्रज्ञप्ति

भूमि १७

(उपाधि-रहिता भूमि)

१. भूमि-प्रज्ञप्तिसे

२. निर्वृति-प्रज्ञप्तिसे

(१) व्युपशमा निर्वृति

(२) अव्यावाध-निर्वृति

३. निर्वृति-पर्यायविज्ञप्तिसे

“योगाचार भूमि” (संस्कृत)

को महामहोपाध्याय विष्णु-शेखर भट्टाचार्य सम्पादित कर रहे हैं ।

३-दार्शनिक विचार

असंग क्षणिक विज्ञानवादी थे। यह विज्ञानवाद असंगके पहिले भी “लकावतार सूत्र”, “सधिनिर्भोचन सूत्र” जैसे महायान सूत्रोमे मौजूद था। इन सूत्रोको बुद्धवचन कहा जाता है, मगर अधिकांश महायान-सूत्रोको भाँति यह बुद्धके नामपर बने पीछेके सूत्र है, लकावतार सूत्रका, बुद्धने दक्षिणमें लका (=सीलोन) द्वीपके पर्वत (समन्तकूट?) पर उपदेश दिया था। वस्तुतः उसे दक्षिण न ले जा उत्तरमें गंधारकी पर्वतावलीमे ले जाना अधिक युक्तियुक्त है। बौद्धोका विज्ञानवाद बुद्धके “सव्व अनिच्च” (=सव्व अनित्य है) या क्षणिकवादका अफलातूनके (स्थिर) विज्ञानवादके साथ मिश्रण मात्र है, और यह मिश्रण उसी गंधारमें किया गया, जहाँ यूनानियोकी कलाके मिश्रण द्वारा गंधार मूर्तिकलाने अवतार लिया। विज्ञानवान विज्ञानको ही परमार्थतत्त्व मानता है, यह वतला आये है, और यह भी कि वह पाँच इन्द्रियोके पाँच विज्ञानो तथा छठे मन-विज्ञानके अतिरिक्त एक सातवे आल्यविज्ञानको मानता है। यही आल्यविज्ञान वह तरंगित समुद्र है, जिससे तरंगोकी भाँति विश्वकी मारी जट-चेतन वस्तुएँ प्रकट और विलीन होती रहती हैं।

यहाँ हम असंगके दार्शनिक विचारोको उनकी योगाचार-भूमिके आधार पर देते हैं। स्मरण रहे “योगाचार-भूमि” कोई सुसबद्ध दार्शनिक ग्रंथ नहीं है, वह बुद्धघोषके “विसुद्धिमार्ग” (=विशुद्धिमार्ग) की भाँति ज्यादातर बौद्ध सदाचार, योग तथा धर्मतत्त्वका विस्तृत विवेचन है। असंगने अपने इस तरुण समकालीनकी भाँति बुद्धकी किसी एक गाथाको आधार बनाकर अपने ग्रंथको नहीं लिखा है। “गाथार्थ-प्रविचय”^१ मे जरूर १७८ गाथाएँ—हीनयान महायान दोनो पिटकोकी—एकत्रित करदाँ हैं। बुद्धघोषकी भाँति असंगने भी सूत्रोकी भाषा-शैलीका इतना अधिक अनुकरण किया है, कि

^१ योगाचारभूमि (श्रुतमयीभूमि १०)

वाज वक्त भ्रम होने लगता है कि, हम अभिसंस्कृत संस्कृतके कालमें न हो पिटक-कालकी किसी पुस्तकको संस्कृत-शब्दान्तरके रूपमें पढ़ रहे हैं। बुद्धघोष अपने ग्रंथको पालीमें लिख रहे थे, जिसे वसुबधु-कालिदास-कालीन संस्कृतकी भाँति संस्कृत बननेका अभी मौका नहीं मिला था, इसलिए बुद्धघोष पालिकी भाषा-शैलीका अनुकरण करनेके लिए मजबूर थे; मगर असगको ऐसी कोई मजबूरी न थी; न वह अपनी कृतिको बुद्धके नामसे प्रकट करनेके लिए ही इच्छुक थे। फिर, उन्होंने क्यों ऐसी शैलीको स्वीकार किया, जिसमें किसी बातको संक्षेपमें कहा ही नहीं जा सकता? संभव है, सूत्रोकी शैलीसे परिचित अपने पाठकीके लिए आसान करनेके ख्यालसे उन्होंने ऐसा किया हो।

हम यहाँ “योगाचारभूमि”का पूरा संक्षेप नहीं देना चाहते, इसलिए उसमें आये असगके ज्ञेय (=प्रमेय), विज्ञानवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु (=वाद) विद्या, परवाद-खडन और द्रव्य-परमाणु-सवधी विचारोको देने ही पर संतोष करते हैं।

(१) ज्ञेय (=प्रमेय) विषय

ज्ञेय^१ कहते हैं परीक्षणीय पदार्थको। ये चार प्रकारके होते हैं, सत् या भाव रूप, दूसरा असत् या अभाव रूप—अस्तित्व और नास्तित्व।

(क) सत्—यह पाँच प्रकारका होता है, (१) स्वलक्षण (=अपने स्वरूपमें) सत्; (२) सामान्यलक्षण (=जाति आदिके रूपमें) सत्, (३) संकेतलक्षण (=संकेत किये रूपमें) सत्, (४) हेतु लक्षण (=इष्ट-अनिष्ट आदिके हेतुके रूपमें) सत्; (५) फल लक्षण (=परिणामके रूपमें) सत्।

(ख) असत्—यह भी पाँच प्रकारका है। (१) अनुत्पन्न (=जो पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ, अतएव) असत्, (२) निरुद्ध (=जो उत्पन्न

^१ ‘योगाचारभूमि’ (चिन्तामयी भूमि ११)

हो कर निरुद्ध या नष्ट हो गया, अतएव) असत्; (३) अन्योन्य (= गाय घोड़ा नहीं घोड़ा गाय नहीं, इस तरह एक दूसरेके रूपमें) अमत्, (४) परमाय (=मूलमें जानेपर) असत्; और (५) (=वध्या-पुत्रकी भाँति) अत्यन्त असत् ।

(ग) अस्तित्व—यह भी पाँच प्रकारका होता है—(१) परिनिष्पन्नलक्षण—जो अस्तित्व कि परमार्थत है (जैसे कि असंगके मतमें विज्ञान, भौतिकवादियोंके मतमें मूल भौतिकतत्त्व), (२) परतन्त्रलक्षण अस्तित्व प्रतीत्यसमुत्पन्न (“अमुकके होनेके बाद अमुक अस्तित्वमें आता है”) अस्तित्वको कहते हैं, (३) परिकल्पितलक्षण अस्तित्व है, मकेन (Convention) वग जिसको माना जाये, (४) विशेषणलक्षण है काल, जन्म, मृत्यु आदिके सबधसे माना जानेवाला अस्तित्व, और (५) अवक्तव्यलक्षण अस्तित्व वह है, जिसे “हाँ” या “नहीं” में दो टूक नहीं कहा जा सके (जैसे बौद्ध दर्शनमें पुद्गल—चेतनाको स्कन्धोंसे न अलग कहा जा सकता, न एक ही क्या जा सकता) ।

(घ) नास्तित्व—यह पाँच प्रकारका होता है—(१) परमार्थरूपेण नास्तित्व, (२) स्वतन्त्ररूपेण नास्तित्व, (३) सर्वमवधारितसे नास्तित्व, (४) अवशिष्ट रूपसे नास्तित्व और (५) अवक्तव्य रूपसे नास्तित्व ।

परमार्थतः सत्, असत्, अस्तित्व या नास्तित्वको बतलानेके लिए असंगने परमार्थ-गाथाके नामसे महायान-सूत्रोंकी कितनी ही गाथाएँ उद्धृत की हैं । इनमें (१) वस्तुओंके अपने भीतर किसी प्रकारके स्थिर तत्त्वकी सत्ताको इन्कार करते हुए, उन्हें शून्य (=सार-शून्य) कहा गया है, बाह्य और मानस तत्त्वोंको सार-शून्य कहते हुए उन्हें क्षणिक (=क्षण क्षण विनाशी) बतलाया गया है, और यह भी कि (३) कोई (ईश्वर आदि) जनक और नाशक नहीं है, बल्कि जगतीके सारे पदार्थ स्वरस (=स्वभावतः) भगुर है । रूप (Matter), वेदना, मजा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंमें स्थिरताका भास सिर्फं भ्रममात्र है, वस्तुतः वे फेन, बुलबुले, भृंगमरीचिका, कदली-गर्भ तथा

मायाकी भाँति निस्सार है ।^१—

“आध्यात्मिक (=मानसजगत) शून्य है, बाह्य भी शून्य है ।

ऐसा कोई (आत्मा) भी नहीं है, जो शून्यताको अनुभव करता ॥३॥

अपना (कोई) आत्मा ही नहीं है, (यह आत्माकी कल्पना) उलटी कल्पना है । यहाँ कोई सत्य या आत्मा नहीं है ये (सारे) धर्म (=पदार्थ) अपने ही अपने कारण हैं ॥४॥

सारे सस्कार (=उत्पन्न पदार्थ) क्षणिक हैं । . . . ॥५॥ . . .

उसे कोई दूसरा नहीं जन्माता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है । प्रत्ययके होनेपर पदार्थ (=भाव) पुराने नहीं बिल्कुल नये-नये जनमते हैं ॥८॥ न दूसरा इसे नाश करता है, और न स्वयं नष्ट होता है । प्रत्यय (=पूर्वकारण)के होनेपर (ये पदार्थ) उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न हो स्वरस ही क्षणभंगुर है ॥९॥ . . . रूप (=भौतिकतत्त्व) फेनके पिंड समान है, वेदना (स्कन्ध) बुद्बुद जैसी ॥१७॥ संज्ञा (मृग)-मरीचिका सदृशी है, संस्कार कदली जैसे, और विज्ञानको माया-समान सूर्यवशज (=बुद्ध)ने बतलाया है ॥१८॥”

(२) विज्ञानवाद .

(क) आलयविज्ञान—बाह्य-आभ्यन्तर, जड़-चेतन—जो कुछ जगत् है, सब विज्ञानका परिणाम है । विज्ञान-समष्टिको आलयविज्ञान, कहते हैं, इसीसे बीच-तरंगकी भाँति जगत् तथा उसकी सारी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं । इस विश्व-विज्ञान^१ या आलय-विज्ञानसे जैसे जड़-जगत् उत्पन्न हुआ, उसी तरह, वैयक्ति-ज्ञान (=प्रवृत्ति विज्ञान)—पाँचो इन्द्रियोके विज्ञान और छठा मन पैदा हुआ ।

(ख) पाँच, इन्द्रिय-विज्ञान—इन्द्रियोके आश्रयसे जो विज्ञान (=चेतना) पैदा होता है, वह इन्द्रिय-विज्ञान है । अपने आश्रयो चक्षु

^१ योगाचार-भूमि, (चिन्तामयी भूमि ११) ^२ देखो, दर्शन०, पृष्ठ २४२

(=आँख) आदि पाँचो इन्द्रियोके अनुमार, इन्द्रिय-विज्ञान भी पाँच प्रकारके होते हैं ।—

(2) चक्षु-विज्ञान^१ (i) स्वभाव—चक्षु (=आँख) के आश्रय (=सहारे)से जो विज्ञान प्राप्त होता है, वह चक्षु-विज्ञान है । यह है चक्षु-विज्ञानका स्वभाव (=स्वरूप) ।

(ii) आश्रय—चक्षु-विज्ञानके आश्रय तीन हैं चक्षु, जो कि साथ साथ अस्तित्वमे आता तथा चिलीन होता है, अतएव महभू आश्रय है; मन जो इस विज्ञान (की सन्तति)का वादमे आश्रय होता है, अतएव समनन्तर आश्रय है; रूप-इन्द्रिय, मन तथा मारे जगत्का बीज जिसमे मौजूद रहता है, वह सर्वबीजक आश्रय है आलय-विज्ञान । इन तीनों आश्रयोंमें चक्षु रूप (=भीतिक) होनेसे रूपी आश्रय है, और वाकी अरूपी ।

(iii) आलंबन या विषय है—वर्ण (=रंग), संस्थान (=आकृति) और विज्ञप्ति (=क्रिया) । (a) वर्ण है—नील, पीत, लाल, सफेद छाया, धूप, प्रकाश, अन्वकार, मद्र, धूम, रज, महिका और नम । (b) संस्थान है—लम्बा, छोटा, वृत्त, परिमडल, अणु, स्थूल, मात, विसात, उन्नत और अवनत । (c) विज्ञप्ति है—लेना, फेंकना सिकोटना, फैलाना, ठहरना, बैठना, लेटना, दीडना इत्यादि ।

(iv) सहाय—चक्षु-विज्ञानके साथ पैदा होनेवाले एक ही आलवन-के चैतसिक धर्म हैं ।

(v) कर्म—छे हैं (१) स्वविषय-अवलंबी, (२) स्वलक्षण, (३) वर्तमान काल, (४) एक क्षण, (५) शुद्ध (=कृष्ण) अशुद्ध मनके निज्ञान कर्मके उत्थान, इन दो आकारोंसे अनुवृत्ति, (६) इष्ट या अनिष्ट फलका ग्रहण ।

(b-c) श्रोत्र आदि विज्ञान—इसी तरह श्रोत्र, घ्राण जिह्वा और काया (=त्वग्) इन्द्रियोके इन्द्रिय-विज्ञान हैं ।

^१ योगाचार-भूमि (१)

(ग) मन-विज्ञान—यह छठा-विज्ञान है। इसके स्वभाव आदि है—

(a) स्वभाव—चित्त, मन और विज्ञान इसके स्वरूप (=स्वभाव) हैं। सारे बीजो (=मूल कारणो) वाला आश्रय स्वरूप आलय-विज्ञान चित्त है, (२) मन सदा अविद्या, “मैं आत्मा हूँ” इस दृष्टि, अस्मिमान और तृष्णा (=शोपनहारकी तृष्णा) इन चार क्लेशो (=चित्तमलो) से युक्त रहता है। (३) विज्ञान जो आलवन (=विषय) क्रियामे उपस्थित होता है।

(b) आश्रय—मन समनन्तर-आश्रय है, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियो-के विज्ञानोकी उत्पत्ति हो जानेके अनन्तर वही इन विज्ञानोका आश्रय होता है, बीज-आश्रय तो वही सारे बीजोका रखनेवाला आलय-विज्ञान है।

(c) आलम्बन—मनका आलम्बन (=विषय) पाँचो इन्द्रियोके पाँचो विज्ञान—जिन्हें धर्म भी कहा जाता है—है।

(d) सहाय—मनके सहाय (=साथी) बहुत हैं, जिनमेसे कुछ हैं—मनस्कार, स्पर्श^१, वेदना, सज्ञा, चेतना, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, लज्जा, निर्लज्जता, अलोभ, अद्वेष, अमोह, पराक्रम, उपेक्षा, अहिंसा, राग, सन्देह, क्रोध, ईर्ष्या, गठता, हिंसा आदि चैतसिक धर्म।

(e) कर्म—पहिला है अपने पराये विषयो सम्बन्धी क्रिया जो कि क्रमश छ आकारोमे प्रकट होती है—(१) मनकी प्रथम क्रिया है, विषयके सामान्य स्वरूपकी विज्ञप्ति, (२) फिर उसके तीनों कालोकी विज्ञप्ति, (३) फिर क्षणोके क्रमकी विज्ञप्ति, (४) फिर प्रवृत्ति या अनुवृत्ति शुद्ध-अशुद्ध धर्म-कर्मोकी विज्ञप्ति, (५) फिर इष्ट-अनिष्ट फलका ग्रहण; (६) दूसरे विज्ञान-समुदायोका उत्पादन। दूसरी तरहपर लेनेसे मनके विशेष (=वैशेषिक) कर्म होते हैं—(१) विषयकी विकल्पना; (२) विषयका उपनिध्यान (=चिन्तन); (३) मदमे होना; (४)

^१ Contact.

उन्मादमे होना, (५) निद्रामे जाना; (६) जागना, (७) मूर्च्छा खाना; (८) मूर्च्छासे उठना, (९) कायिक-वाचिक कर्मोंका करना, (१०) वैराग्य करना, (११) वैराग्य छोड़ना, (१२) भलाईकी जड़ोंको काटना, (१३) भलाईकी जड़ोंको जोड़ना, (१४) शरीर छोड़ना (=च्युति) और (१५) शरीरमे आना (=उत्पत्ति) ।

इन कर्मोंसे कुछके होनेके वारेमें असंग कहते हैं^१—

पुरविले कर्मोंसे अथवा शरीरघातुकी विषमता, भय, मर्म-स्थानमे चोट, और भूत-प्रेतके आवेशसे उन्माद (=पागलपन) होता है ।

शरीरकी दुर्बलता, परिश्रमकी थकावट, भोजनके भारीपन आदि कारणोंसे निद्रा होती है ।

वात-पित्तके बिगाड, अधिक पाखाना और खूनके निकलनेमें मूर्च्छा होती है ।

(मनको च्युति तथा उत्पत्ति)

बौद्ध-दर्शन क्षण-क्षण परिवर्तनशील मनसे परे किसी भी नित्य जीवात्माको नहीं मानता । मरनेका मतलब है, एक शरीर-प्रवाह (=शरीर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील होनेसे वस्तु नहीं बल्कि प्रवाह है) में एक मन-प्रवाह (=मन-सन्तति) का च्युत होना । उमी तरह उत्पत्तिका मतलब है, एक मन-प्रवाहका दूसरे शरीर-प्रवाहमें उत्पन्न होना ।

(a) च्युति (=मृत्यु)—मृत्यु तीन कारणोंसे होती है—आयुका खतम हो जाना, पुण्यका खतम हो जाना और शरीरकी विषम क्रिया यानी भोजनमें न मात्राका ख्याल, न पथ्यका ख्याल, दवा मेवन न करना, अकालचारी अन्नह्यचारी होना ।

मृत्युके वक्त पापियोंके शरीरका हृदयमें ऊपरी भाग पहिले ठठा पड़ता है, और पुण्यात्माओंका निचला भाग, फिर सारा शरीर ।

^१ योगाचार-भूमि (मन-भूमि १)

(अन्तराभव)—एक शरीरके, छोड़ने, दूसरे शरीरमें उत्पन्न होने तक जो बीचकी अवस्थामें मन (=जीव) रहता है, इसीको अन्तराभव, गन्धर्व, मनोमय कहते हैं। अन्तराभवको जैसे शरीरमें उत्पन्न होना होता है, वैसी ही उसकी आकृति होती है। वह अपने रास्तेमें सप्ताह भर तक लगा सकता है।

(b) उत्पत्ति (=जन्म)—मरणकालमें मन अपने भले बुरे कर्मोंको साकार देखता, और वैसा ही अन्तराभवीय रूप धारण करता है। मनके किसी शरीरमें उत्पन्न होनेके लिए तीन बातोंकी जरूरत है—माता ऋतुमती हो, पिताका बीज मौजूद हो और गन्धर्व (=अन्तराभव) उपस्थित हो, साथ ही योनि, बीज और कर्मके दोष बाधक न हो।

(गर्भमें लिगभेद)—अन्तराभव माता-पिताकी मैथुन क्रियाको देखता है, उस समय यदि स्त्री वननेवाला होता है, तो उसकी पुरुषमें आसक्ति हो जाती है, और यदि पुरुष वननेवाला होता है, तो स्त्रीमें।

(i) गर्भाधान—मैथुनके पश्चात् घना बीज छूटता है, और रक्तका विन्दु भी। बीज और शोणित विन्दु दोनों माँकी योनि हीमें मिश्रित हो, एकपिंड बनकर उबलकर ठंडे हो गए दूधकी भाँति स्थित होते हैं, इसी पिंडमें सारे बीजोंको अपने भीतर रखनेवाला आलय-विज्ञान समा जाता है, अन्तराभव उसमें आकर जुड़ जाता है। इसे गर्भकी कलल-अवस्था कहते हैं। कललके जिस स्थानमें विज्ञान जुड़ता है, वही उसका हृदय स्थान होता है। (१) कललसे आगे बढ़ते हुए गर्भ और सात अवस्थाएँ धारण करता है—(२) अर्बुद, (३) पेशी, (४) घन, (५) प्रशाख, (६) केश-रोम-नखवाली अवस्था, (७) इन्द्रिय-अवस्था, और (८) व्यजन (=लिगभेद)-अवस्था। इनमें अर्बुद-अवस्थामें गर्भ दही जैसा होता है, वही मासावस्था तक न-पहुँचा अर्बुद होता है। पेशी गिथिल माससी होती है। कुछ और घना हो जानेपर घन, शाखाकी भाँति हाथ-पैर आदिका फूटना प्रशाख होता है।

(ii) रंग आदि—बुरे कर्मोंके कारण अथवा माताके अधिक

क्षार-लवण-रसवाले अन्न-पानके सेवनमें बालकके केशोंमें नानाग्न होते हैं । बालकके केश काले-गोरे होनेमें पूर्व जन्मके अतिरिक्त निम्न कारण हैं—यदि माँ बहुत गर्मी, तथा घूप आदिका सेवन करती है, तो बच्चा काला होगा । यदि माँ बहुत ठंडे कमरेमें रहती है, तो लडका गोरा । बहुत गर्म खाना खानेपर लडका लाल होगा । चमड़ेमें दाद, कुष्ठ आदि विकार माताके अत्यन्त मैथुन-सेवनसे होता है । माताके बहुत ढीङने-कूदने, तैरनेमें बच्चेके अंग विकृत होते हैं ।

कन्या होनेपर गर्भ माताकी कोखमें वाई ओर होता है, और पुत्र होनेपर दाहिनी ओर । प्रसवके वक्त माताके उदरमें असह्य कष्ट देनेवाली हवा पैदा होती है, जो गर्भके गिरको नीचे और पैरको ऊपर कर देती है ।

(३) अनित्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद

“इसे कोई दूसरा नहीं जनमाता और न वह स्वय उत्पन्न होता है प्रत्ययके होनेपर भाव (==वस्तुएँ) पुराने नहीं बिल्कुल नये-नये जनमते हैं । . . प्रत्ययके होनेपर भाव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हो स्वरस (==स्वतः) ही क्षणभंगुर है ।”^१

महायानसूत्रकी इन गाथाओं द्वारा असंगने बौद्ध-दर्शनके मूल सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिकवादको बतलाया है । “क्षणिकके अर्थको लेकर प्रतीत्य-समुत्पाद” कहते हुए उन्होंने क्षणिकवाद शब्दसे प्रतीत्य-समुत्पादको स्वीकार किया है ।

प्रतीत्यसमुत्पाद—प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ करते हुए अंगन कहते हैं^२—प्रतिगमन करके (==खतम करके एक चीज़को दूसरीकी उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है ।) प्रत्यय अर्थात् गति-नील अत्यय (==दिनाग)के साथ उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है, जो क्षणिकके अर्थको लेकर होता है

^१ देखो पृष्ठ १६ ^२ यो० भू० (भूमि ३, ४, ५) “प्रत्यय इत्य रात्ययसंगत उत्पादः प्रतीत्य-समुत्पादः क्षणिकार्यमधिकृत्य ।”^३ वहीं ।

अथवा प्रत्यय अर्थात् अतीत (=खतम हुई चीज) से अपने प्रवाहमें उत्पाद । 'इसके होनेके बाद यह होता है', 'इसके उत्पादसे यह उत्पन्न होता है, दूसरी जगह नहीं', पहिलीके नष्ट-विनष्ट होनेपर उत्पाद इस अर्थमें । अथवा अतीत कालमें प्रत्यय (=खतम) हो जानेपर साथ ही उसी प्रवाहमें उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है ।

और भी^१—

“प्रतीत्य-समुत्पाद क्या है ? नि सत्त्व (=अन्-आत्मा) के अर्थमें . . । नि सत्त्व होनेसे अनित्य है इस अर्थमें । अनित्य होनेपर गति-शीलके अर्थमें । गतिशील होनेपर परतत्रताके अर्थमें । परतत्र होनेपर निरीहके अर्थमें । निरीह होनेपर कार्य-कारण (=हेतु-फल) व्यवस्थाके खडित हो जानेके अर्थमें । (कार्य-कारण-)व्यवस्थाके खडित होनेपर अनुकूल कार्य-कारणकी प्रवृत्तिके अर्थमें । अनुरूप कार्य-कारणकी प्रवृत्ति होनेपर कर्मके स्वभावके अर्थमें ।

अनित्य, दुःख, शून्य और नैरात्म्य (=नित्य आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करना) के अर्थमें होनेसे भगवान् (बुद्ध) ने प्रतीत्य-समुत्पादके बारेमें कहा^२ “प्रतीत्य-समुत्पाद गम्भीर है ।”

“(वस्तुएँ) प्रतिक्षण नये-नये रूपमें जीवन-यात्रा (=प्रवृत्ति) करती है । प्रतीत्य-समुत्पाद क्षणभंगुर है ।^३

(४) हेतु-विद्या

असगने विद्या (=ज्ञान) को पाँच प्रकारकी माना है^४—(१) अध्यात्मविद्या जिसमें बुद्धोक्त सूत्र, विनय और मातृका (=अभि-धर्म) अर्थात् त्रिपिटक तथा उसमें वर्णित विषय सम्मिलित हैं; (२) चिकित्सा-

^१ वहीं कुछ पहिले ।

^२ संयुत्तनिकाय २।६२; दीघनिकाय २।५५

^३ “प्रतिक्षणं च नव लक्षणानिप्रवर्तन्ते । क्षणभंगुरश्च प्रतीत्य-समुत्पादः” ।

^४ यो० भू० (श्रुतमयी भूमि १०)

विद्या या वैद्यकशास्त्र, (३) हेतुविद्या या तर्कशास्त्र, (४) मन्त्रविद्या जिससे धर्म, अर्थ, पुद्गल (=जीव), काल, सख्या और सखिलाधिकरण (=व्याकरणशास्त्र) का ज्ञान होता है, और शिल्पकर्मस्थानविद्या (=शिल्पशास्त्र) ।

हेतुविद्याको कुछ विस्तारपूर्वक समझाते हुए अनग उमें छ भागोंमें बाँटते हैं—(१) वाद, (२) वाद-अधिकरण, (३) वाद-अधिष्ठान, (४) वाद-अलकार, (५) वाद-निग्रह और (६) वादेवहुकर (=वाद-उपयोगी) वाते ।

(क) वाद—वाद बहस या सलाप छ प्रकारके होते हैं ।

(a) वाद—जो कुछ मुँहमें बोला जाये, वह वाद है ।

(b) प्रवाद—लोकश्रुति या जनश्रुति प्रवाद है ।

(c) विवाद—भोगोंके रखने-छीननेके सम्बन्धमें अथवा दृष्टि (=दर्शन) या विचारके सवधमें परस्पर विरोधी वाद (=वाग्युद्ध) विवाद है ।^१

(d) अपवाद—निन्दा ।

(e) अनुवाद—धर्मके बारेमें उठे सन्देहोंके दूर करनेके लिए जो बात की जाये ।

(f) अववाद—तत्त्वज्ञान करानेके लिए किया गया वाद ।

इनमें विवाद और अपवाद त्याज्य हैं, और अनुवाद तथा अववाद सेवनीय ।

(ख) वाद-अधिकरण—वादके उपयुक्त अधिकरण या म्यान दो

^१ “कामेषु तद्यथा नट-नर्तक-लासक-हासकाद्युपसंहितेषु वा वैश्य जनोपसंहितेषु वा पुनः सदृशनाय वा उपभोगाय वा विगृहीतानां नानावादः । दृष्टेर्वा पुनः आरभ्य तद्यथा सत्कायदृष्टि, उच्छेददृष्टि, विषमहेतुदृष्टि, शाश्वतदृष्टि, वार्यगण्यदृष्टि, मिथ्यादृष्टि-मिति वा नानावादः ।”

है, राजा या योग्यकुलकी परिषद् और धर्म-अर्थसे निपुण ब्राह्मणों या श्रमणोंकी सभा ।

(ग) वाद-अधिष्ठान—वादके अधिष्ठान (=मुख्य विषय) है दो प्रकारके साध्य और साध्यको सिद्ध करनेके लिए उपयुक्त होनेवाले आठ प्रकारके साधन । इसमें साध्यके सत्-असत्के स्वभाव (=स्वरूप) तथा नित्य-अनित्य, भौतिक-अभौतिक आदि विशेषको लेकर साध्यके स्वभाव और विशेष ये दो भेद होते हैं ।

(आठ साधन)—साध्य वस्तुके सिद्ध करनेवाले साधन निम्न आठ प्रकारके हैं—

(a) प्रतिज्ञा—स्वभाव या विशेषवाले दोनों प्रकारके साध्यको लेकर (वादी-प्रतिवादीका) जो अपने पक्षका परिग्रह (=ग्रहण) है । वही प्रतिज्ञा है । यह पक्ष-परिग्रह शास्त्र (-मत)की स्वीकृतिसे हो सकता है या अपनी प्रतिभासे, या दूसरेके तिरस्कारसे या दूसरेके शास्त्रीय मत (=अनुश्रव)से, या तत्त्व-साक्षात्कारसे, या अपने पक्षकी स्थापनासे, या पर-पक्षके दूषणसे, या दूसरेके पराजयसे, या दूसरेपर अनुकंपासे भी हो सकता है ।

(b) हेतु—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए सारूप्य (=सादृश्य) या वैरूप्य उदाहरणकी सहायतासे, अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान या आप्त-आगम (=शब्दप्रमाण, ग्रन्थ-प्रमाण)से युक्तिका कहना हेतु है ।

(c) उदाहरण—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए हेतुपर आश्रित दुनियामे उचित प्रसिद्ध वस्तुको लेकर बान करना उदाहरण है ।

(d) सारूप्य—किसी चीजका किसीके साथ सादृश्य सारूप्य कहा जाता है । यह पाँच प्रकारका होता है ।—(१) वर्तमान या पूर्वमे देखे हेतुमे चिह्नको लेकर एक दूसरेका सादृश्य लिंग-सादृश्य है; (२) परस्पर स्वरूप (=लक्षण) सादृश्य स्वभाव-सादृश्य कहा जाता है; (३) परस्पर क्रिया-सादृश्यको कर्म-सादृश्य कहते हैं; (४) धर्मता (=गुण)

सादृश्य धर्म-सादृश्य कहा जाता है, जैसे अनित्यमे दुःख-वर्मताका सादृश्य दुःखमे नैरात्म्यधर्मताका, निरात्मकोमे जन्म-वर्मताका इत्यादि, (५) हेतुफल-सादृश्य परस्पर 'कार्य-कारण' बननेका सादृश्य है ।

(e) वैरूप्य—किसी वस्तुका किसी वस्तुके साथ अ-सदृश होना वैरूप्य है । यह भी लिंग—, स्वभाव—, कर्म—, धर्म—, और हेतुफल—वैसा-दृश्योके तौरपर पाँच प्रकारका होना है ।

(f) प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष उसे कहते हैं, जो कि अ-परोक्ष (=इन्द्रियमे परेका नहीं) अनभ्यूहितअनभ्यूह्य और अ-भ्रान्त है ।^१ यहाँ जो कल्पना नहीं, सिर्फ (इन्द्रियके) ग्रहण मात्रसे सिद्ध है, और जो वस्तु (=विषय) पर आधारित है,^१ उसे अनभ्यूहित-अनभ्यूह्य कहते हैं । अभ्रान्त उसे कहते हैं, जो कि पाँच भ्रान्तियोंसे मुक्त है । यह पाँच भ्रान्तियाँ हैं—

(i) संज्ञा भ्रान्ति—जैसे मृगतृष्णावाली (मरु)-मरीचिकामे पानी की संज्ञा (=ज्ञान) ।

(ii) संख्या-भ्रान्ति—जैसे घुन्ववालेका एक चन्द्रमे दो चन्द्रको देसना ।

(iii) संस्थान-भ्रान्ति—जैसे वनेठी (=अखान)मे (प्रज्ञान-) चक्रकी भ्रान्ति संस्थान (=आकार)-नवधी भ्रान्ति है ।

(iv) वर्ण-भ्रान्ति—जैसे कामला रोगवाले आदमीको न-यौनी चीजे भी पीली दिखलाई पड़ती है ।

(v) कर्म-भ्रान्ति—जैसे कडी मट्ठी बाँधकर दीठनेवालेको वृक्ष पीछे चले आते दीख पड़ते हैं ।

^१ "प्रत्यक्ष कल्पनाषोढनभ्रान्त"—धर्मकीर्ति, पृ० ७६५ (असंगानुज वसुधन्वुके शिष्य दिग्नागका भी यही मत) ।

^१ "यो ग्रहणमात्रासिद्धोपलब्ध्याश्रयो विषयः यच्च विषयप्रतिष्ठोप-लब्ध्याश्रयो विषयः ।" यो० भू०

चित्त-भ्रान्ति—उक्त पाँचो भ्रान्तियोसे भ्रमपूर्ण विषयमे चित्तकी रति चित्त-भ्रान्ति है ।

दृष्टि-भ्रान्ति—उक्त पाँचो भ्रान्तियोसे भ्रमपूर्ण विषयमें जो रुचि, स्थिति, मगल मानना, आमक्ति है, उसे दृष्टिभ्रान्ति कहते हैं ।

प्रत्यक्ष चार प्रकारका होता है—रूपी (=भौतिक), इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-अनुभव-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष और शुद्ध-प्रत्यक्ष ।^१ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मन-अनुभव प्रत्यक्षका ही नाम लोक-प्रत्यक्ष है, यह असग खुद मानते हैं ।^२ इस प्रकार प्रत्यक्ष तीन ही है, जिन्हें धर्मकीर्त्ति (दिग्नाग, और शायद उनके गुरु वसुवन्धु भी) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष कहते हैं । हाँ वह लोक-प्रत्यक्षकी जगह स्वसवेदन-प्रत्यक्षसे चारकी सख्या पूरी कर देते हैं, इस तरह प्रत्यक्षके अपरोक्ष, कल्पना-रहित (=कल्पनापोढ) अभ्रान्त इस प्रत्यक्ष-लक्षण और इन्द्रिय-, मानस-, योगि-प्रत्यक्ष इन तीन भेदोकी परम्पराको हम बौद्धन्यायके सबसे पीछेके ग्रथकारो ज्ञानश्री आदिसे लेकर असग तक पाते हैं । असगसे पौने दो शताब्दी पहिले नागार्जुनसे और नागार्जुनसे शताब्दी पहिले अश्वघोष तक उसे जोड़नेका हमारे पास साधन नहीं है ।

(४) **अनुमान**—ऊहा (=तर्क)से अभ्यूहित (=तर्कित) और तर्कणीय जिसका विषय है वह अनुमान है । इसके पाँच भेद होते हैं—(१) लिंग से किया गया अनुमान, जैसे ध्वजसे रथका अनुमान, धूमसे अग्नि, राजासे राष्ट्र, पतिसे स्त्री, ककुद (=उड्डा)-सींगसे बैलका अनुमान, (२) स्वभाव-से अनुमान यह एक देश (=अश)से सारेका अनुमान है, जैसे एक चावलके पकनेसे सारी हाँडीके पकनेका अनुमान, (३) कर्मसे अनुमान, जैसे हिलने, अग-चालनसे पुरुषका अनुमान, पैरकी चालसे हाथी, शरीरकी गतिसे साँप, हिनहिनानेसे घोड़े, होकडनेसे साँडका अनुमान, देखनेसे आँख, सुननेसे

^१ शुद्ध-प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष ही है “यो लोकोत्तरस्य ज्ञानस्य विषयः ।”

^२ “तदुभयमेकध्यमभिसंक्षिप्य लोक-प्रत्यक्षमित्युच्यते ।” यो० भू०

कान, सूँघनेसे घ्राण, चखनेसे जिह्वा, छूनेसे त्वक्, जाननेसे मनका अनुमान, पानीमें देखनेकी रुकावटसे पृथिवी, चिकने हरे होनेसे जल, दाह-भस्म देखनेसे आग, वनस्पतिके हिलनेसे हवा । (४) धर्म (=गुण)से अनुमान, जैसा अनित्य होनेसे दुःख होनेका अनुमान, दुःख होनेसे शून्य और अनात्मक होनेका अनुमान । (५) कार्य-कारण (=हेतु-फल)से अनुमान, अर्थात् कार्यसे कारणका अनुमान तथा कारणसे कार्यका अनुमान, जैसे राजाकी सेवासे महाऐश्वर्य (=महाभिसार)के लाभका अनुमान, महाऐश्वर्यके लाभसे राज-सेवाका अनुमान, बहुत भोजनसे तृप्ति, तृप्तिसे बहुत भोजन, विषम भोजनसे व्याधि, व्याधिसे विषम भोजनका अनुमान ।

धर्मकीर्तिने तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे अनुमानके जिन भेदोंको बतलाया है, वे असंगके इन भेदोंमें भी मौजूद हैं ।

(h) आप्तागम—यही गव्द प्रमाण है ।

(घ) वाद-अलंकार—वादमें भूषण रूप है वक्ताकी निम्न पांच योग्यताएँ—(१) स्व-पर-समयज्ञता—अपने और पराये मतोंकी अभिज्ञता । (२) वाक्कर्म-संपन्नता—बोलनेमें निपुणता जोकि अग्राम्य, लघु (=सुबोध), ओजस्वी, सबद्ध (=परस्पर अ-विरोधी और अधिष्ठित) और सु-अर्थ शब्दोंके प्रयोगको कहते हैं । (३) वैशारद्य—सभामें अदीनता, निर्भीकता न-पीला मुख होने, गद्गद स्वर न होने, अदीन वचन होनेको कहते हैं । (४) स्थैर्य—काल लेकर जल्दी किये बिना बोलना । (५) दाक्षिण्य—मित्रकी भाँति पर-चित्तके अनुकूल बात करनेका ढंग ।

(ङ) वाद-निग्रह—वादमें पकड़ा जाना, जिससे कि वादी पराजित हो जाता है । ये तीन हैं—कथा-त्याग, कथा-माद (=इश्वर-उद्घर्षकी वाते करने लगना) और कथा-दोष । बेठीक बोलना, अ-परिमित बोलना, अनर्थवाली बात बोलना, बेसमय बोलना, अ-स्थिर, अ-दीप्त और अ-सबद्ध बोलना ये कथा-दोष हैं ।

(च) वाद-निसरण—गुण-दोष, कीर्तय (=निपुणता) और सभाकी परीक्षा करके वादको न करना वाद-निसरण है ।

(छ) वादेवहुकर वार्ते—ये है वादकी उपयोगी वार्ते स्व-पर-मत-अभिज्ञता, वैशारद्य और प्रतिभान्विता ।

(५) परमत-खंडन

असंगने “योगाचार-भूमि”में सोलह पर-वादो (=दूसरोके मतों)को देकर उनका खंडन किया है । ये पर-वाद है—

(क) हेतु-फल-सद्वाद—हेतु (=कारण)मे फल (=कार्य) सदा मौजूद रहता है, जैसा कि वार्धगण्य (साख्य) मानते हैं । वे अपने इस सद्वाद (पीछे यही सत्कार्यवाद)को आगम (=ग्रंथ)पर आधारित तथा युक्ति-सम्मत मानते हैं । वे कहते हैं, जो फल (=कार्य) जिससे उत्पन्न होता वह उसका हेतु (=कारण) होता है; इसीलिए आदमी जिस फलको चाहता है, वह उसीके हेतुका उपयोग करता है, दूसरेका नहीं । यदि ऐसा न होता तो जिस किसी वस्तु (तेलके लिए तिल नहीं रेत आदि किसी भी चीज)का भी उपयोग करता ।

खंडन—मगर उनका यह वाद गलत है । आप हेतु (=कारण) को फल (=कार्य)-स्वरूप मानते हैं या भिन्न स्वरूप ? यदि हेतु फल-स्वरूप ही है, अर्थात् दोनों अभिन्न हैं, तो हेतु और फल, हेतुसे फल यह कहना गलत है । यदि भिन्न स्वरूप है, तो सवाल होगा—वह भिन्न स्वरूप उत्पन्न हुआ है या अनुत्पन्न ? उत्पन्न माननेपर, ‘हेतुमे फल है’ कहना ठीक नहीं । यदि उत्पन्न मानते हैं, तो जो अनुत्पन्न है, वह हेतुमे “है” कैसे कहा जायेगा ? इसलिए हेतुमे फलका सद्भाव नहीं होता, हेतुके होनेपर फल उत्पन्न होता है । अतएव “नित्य काल सनातनसे हेतुमे फल विद्यमान है” यह कहना ठीक नहीं है । यह वाद अयोग-विहित (=युक्ति-रहित) है ।

(ख) अभिव्यक्तिवाद—अभिव्यक्ति या अभिव्यजनावदके अनुसार पदार्थ उत्पन्न नहीं होते, वल्कि अभिव्यक्त (=प्रकाशित) होते हैं । हेतु-फल-सद्वादके माननेवाले साख्यो और शब्द-लक्षणवादी वैयाकरणोंका

यही मत है। हेतु-फल-सद्वादके अनुसार फल (=कार्य) यदि पहिलेहीने मौजूद है, तो प्रयत्न करनेकी क्या जरूरत ? अभिव्यक्तिके लिए प्रयत्न करना पड़ता है।

खंडन—क्या आप अनभिव्यक्तिमें आवरण करनेवाले कारणके होने-को मानते हैं या न होनेको ? “आवरण-कारणके न होनेपर” यह कह नहीं सकते। “होनेपर” भी नहीं कह सकते, क्योंकि जब वह हेतुको नहीं ढाँक सकता, जो कि सदा फल-सयुक्त है, तो फलको कैसे ढाँक सकता है ? हेतु-फल-सद्वाद वस्तुतः गलत है, वस्तुओंके अभिव्यक्त न होनेके छ कारण हैं—(१) दूर होनेसे, (२) चार प्रकारके आवरणोंसे ढँके होनेसे, (३) सूक्ष्म होनेसे, (४) चित्तके विक्षेपसे, (५) इन्द्रियके उपघातसे, (६) इन्द्रिय-सवधी ज्ञानोंके न पानेसे।

जिस तरह सांख्योका हेतु-फल-अभिव्यक्तिवाद गलत है, वैसे ही वैयाकरणों (और मीमांसकोंका भी) शब्द-अभिव्यक्तिवाद भी गलत है। “शब्द नित्य है” यह युक्तिहीन वाद है।

(ग) भूत-भविष्यके द्रव्योंका सद्वाद—यह बौद्ध सर्वास्तिवादियोंका मत है, अश्वघोष (५० ई०)से असंगके वक्त तक गद्यार (असंगकी जन्मभूमि) सर्वास्तिवादियोंका गढ़ चला आया था। असंगके अनुज वसुबन्धुका महान् ग्रंथ अमिधर्मकोश तथा उसपर स्वरचित्त-भाष्य सर्वास्तिवाद (=वैभाषिक) के ही ग्रंथ हैं। लेकिन अब गद्यार तथा सारे भारतमें इन प्राचीन (=स्थविर) बौद्ध संप्रदायोंका लोप होनेवाला था और उनका स्थान महायान लेने जा रहा था। सर्वास्तिवादी कहते “अतीत (=भूत) है, अनागत (=भविष्य) है, दोनों उसी तरह लक्षण-संपन्न है जैसे कि वर्तमान द्रव्य।”

ईश्वरकृष्णने भी सांख्य-कारिकामें इन हेतुओंको गिनाया है। ईश्वरकृष्णका दूसरा नाम विंध्यवासी भी था, और उनकी प्रतिद्वंद्विता असंगानुज वसुबन्धुसे थी, यह हमें चीनी लेखोंसे मालूम है।

खंडन—असंग इसका खंडन करते हुए कहते हैं—इन (अतीत-अनागत) काल-सबधी वस्तुओं (= धर्मों) को नित्य मानते हो या अनित्य ? यदि नित्य मानते हो, तो त्रिकाल-सबद्ध नहीं बल्कि कालातीत होंगे । यदि अनित्य लक्षण (= स्वरूप) मानते हो, तो “तीनों कालोंमें वैसा ही विद्यमान है” यह कहना ठीक नहीं ।

(घ) **आत्मवाद**—आत्मा, सत्त्व, जीव, पोष या पुद्गल नामधारी एक स्थिर सत्य तत्त्वको मानना आत्मवाद है, (उपनिषदका यह प्रधान मत है) । असंग इसका खंडन करते हैं—जो देखता है वह आत्मा है यह भी युक्ति-युक्त नहीं । आत्माकी धारणा न प्रत्यक्ष पदार्थमें होती है, न अनुमान-गम्य पदार्थमें ही । यदि चेष्टा (= शरीर-क्रिया) को बुद्धि-हेतुक माने, तो ‘आत्मा चेष्टा करता है’ यह कहना ठीक नहीं । नित्य आत्मा चेष्टा कर नहीं सकता । नित्य आत्मा सुख-दुःखसे भी लिप्त नहीं हो सकता ।

वस्तुतः धर्मों (= सांसारिक वस्तु-घटनाओं) में आत्मा एक कल्पना मात्र है । सारे “धर्म” अनित्य, अघ्रुव, अन्-आश्वासिक, विकारी, जन्म-जरा-व्याधिवाले हैं, दुःख मात्र उनका स्वरूप है । इसीलिए भगवान् ने कहा—“भिक्षुओं ! ये धर्म (= वस्तुएँ) ही आत्मा हैं । भिक्षु ! यह तेरा आत्मा अ-घ्रुव, अन्-आश्वासिक, विपरिणामी (= विकारी) है ।” यह सत्त्वकी कल्पना सस्कारो (= कृत वस्तुओं, घटनाओं) में ही समझनी चाहिए, दुनियामें व्यवहारकी आसानी के लिए ऐसा किया जाता है । वस्तुतः सत्त्व या आत्मा नामकी वस्तु कोई नहीं है । आत्मवाद युक्तिहीन वाद है ।

(ङ) **शाश्वतवाद**^१—आत्मा और लोकको शाश्वत, अकृत, अकृत-कृत, अनिर्मित, अनिर्माणकृत, अवध्य, कूटस्थायी मानना शाश्वतवाद है । कितने ही (यूनानी दार्शनिकोंकी) परमाणु नित्यताको माननेवाले भी शाश्वतवादी होते हैं । परमाणु नित्यवादके बारेमें आगे कहेंगे ।

^१ “सुख-संव्यवहारार्थम् ।”

^२ प्रकृष कात्यायन, पृष्ठ ५६२

(च) पूर्वकृतहेतुवाद^१—जो कुछ आदमीको भोग भोगना पड रहा है, वह सभी पूर्वके किये कर्मोंके कारण है, इसे कहते हैं पूर्वकृत-हेतुवाद यह जैनोका मत है। दुनियामें ठीकसे काम करनेवालोको दुःख पाते, भूठे काम करनेवालोको हम सुख पाते देखते हैं। यदि पुरुष-प्रयत्नके आधीन होता, तो ऐसा न होता। इसलिए यह सब पूर्वकृतहेतुक, पुरिविलेका फल है।

असंग इस बातसे बिल्कुल इन्कार नहीं करते, हाँ, वह साथ ही पुरुषके आजके प्रयत्नको भी फलदायक मानते हैं।

(छ) ईश्वरादिकर्तृत्ववाद—इसके अनुसार पुरुष जो कुछ भी संवेदना (=अनुभव) करता है, वह सभी ईश्वरके करनेके कारण होता है। मनुष्य शुभ करना चाहता है, पाप कर बैठता है, स्वर्गलोकमें जानेकी कामना करता है, नरकमें चला जाता है, सुख भोगनेकी इच्छा रखते दुःख ही भोगता है। चूँकि ऐसा देखा जाता है, इससे जान पड़ता है कि भावोका कोई कर्त्ता, स्रष्टा, निर्माता, पितासा ईश्वर है।

खंडन—ईश्वरमे जगत् बनानेकी शक्ति (जीवोंके) कर्मके कारण है, या बिना कारण ही ? कर्मके कारण (=हेतु) होनेसे सहेतुक है ही, फिर ईश्वरका क्या काम ? यदि कर्मके कारण नहीं, अतएव अहेतुक है, तब भी ठीक नहीं। फिर सवाल होगा—(सृष्टिकर्त्ता) ईश्वर जगत्के अन्तर्भूत है या नहीं ? यदि अन्तर्भूत है, तो जगत्से समानधर्मा हो वह जगत् सृजता है, यह ठीक नहीं है; यदि अन्तर्भूत नहीं है, तो (जगत्मे) भुवत् (या दूर) जगत् सृजता है, यह भी ठीक नहीं। फिर प्रश्न है—वह जगत्को सप्रयोजन सृजता है या निष्प्रयोजन ? यदि सप्रयोजन तो उस प्रयोजनके प्रति अनीश्वर (=बेवस) है फिर जगदीश्वर कैसे ? यदि निष्प्रयोजन सृजता है, तो यह भी ठीक नहीं (यह तो मूर्ख चैष्टित होगा)। इसी तरह, यदि ईश्वरहेतुक सृष्टि होती है, तो जब ईश्वर है तब सृष्टि, जब

सृष्टि है तब ईश्वर और यह ठीक नहीं, (क्योंकि दोनों तब अनादि होंगे) । ईश्वर-इच्छाके कारण सृष्टि है, इसमें भी वही दोष है । इस प्रकार सामर्थ्य, जगत्में अन्तर्भूत-अनन्तर्भूत होने, सप्रयोजन-निष्प्रयोजन, और हेतु होनेकी बात लेकर विचार करनेसे पता लगा कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मानना बिल्कुल अयुक्त है ।

(ज) हिंसाधर्मवाद—जो यज्ञमें मन्त्रविधिके अनुसार हिंसा (= प्राणातिपात) करता है, हवन करता है या जो हवन होता है (पशु), और जो इसमें सहायक होता है, सभी स्वर्ग जाते हैं—यह याज्ञिकों (और मीमांसकों) का मत हिंसाधर्मवाद है । कलियुगके आनेपर ब्राह्मणोंने पुराने ब्राह्मण-धर्मको छोड़ मांस खानेकी इच्छासे इस (हिंसाधर्म) का विधान किया ।

हेतु, दृष्टान्त, व्यभिचार, फलशक्तिके अभाव, मन्त्रप्रणेताके सवधसे विचार करनेपर यह वाद अयुक्त ठहरता है ।

(झ) अन्तानन्तिकवाद—लोक अन्तवान्, लोक अनन्तवान् है, इस वादको अन्तानन्तिकवाद कहते हैं । बुद्धके उपदेसों^१ में भी इस वादका जिक्र आया है ।

(ब) अमराविक्षेपवाद—यह वाद भी बुद्ध-वचनोमें मिलता है, और पहिले इसके बारेमें कहा जा चुका है ।^२

(ट) अहेतुकवाद—आत्मा और लोक अहेतुक (=विना हेतुके) ही हैं, यह अहेतुकवाद है, यह भी पीछे आ चुका है ।^३ अभावके अनुस्मरण, आत्माके अनुस्मरण, बाह्य-आभ्यन्तर जगत्में निर्हेतुक वैचित्र्यपर विचार करनेसे यह वाद अयुक्त जान पड़ता है ।

(ठ) उच्छेदवाद—आत्मा रूपी, स्थूल चार महाभूतोंसे बना है, वह रोग-, गड-, शल्य-सहित है । मरनेके बाद वह उच्छिन्न हो जाता है,

^१ देखो दीघनिकाय १।१

^२ देखो दर्शन०, पृष्ठ ४६३

^३ देखो दर्शन०, पृष्ठ ४८६

^४ देखो दर्शन०, पृष्ठ ४८७-८

नष्ट हो जाता है, फिर नहीं रहता । जिस तरह टूटे कपाल (वर्तनके टुकड़े) जुड़ने लायक नहीं होते, जिस तरह टूटा पत्थर अप्रतिमन्विक होता है, वैसे ही यहाँ (आत्माके वारेमे) भी समझना चाहिए ।

खंडन—यदि आत्मा (पाँच) स्कन्ध है, तो स्कन्ध (स्वरूपमे नागमान होते भी) परपरासे चलते रहते हैं, वैसे ही आत्माको भी मानना चाहिए । रूपी, श्रीदारिक, चातुर्माहाभूतिक, सराग, सगड, सगल्य आत्मा होता, तो देवलोकोसे वह इससे भिन्न रूपमें कैसे दीख पड़ता है ?

उच्छेदवाद अर्थात् भीतिकवादके विरुद्ध वम इतनी ही युक्ति दे असंगने मौन धारण किया है ।

(ड) नास्तिकवाद—दान-यज्ञ कुछ नहीं, यह लोक परलोक कुछ नहीं, सुकृत दुष्कृतका फल नहीं होता—यह नास्तिकवाद, पहिले^१ भी आ चुका है ।

(ढ) अग्रवाद—ब्राह्मण ही अग्र (=उच्च श्रेष्ठ) वर्ण है, दूसरे वर्ण हीन है, ब्राह्मण शुक्ल वर्ण है, दूसरे वर्ण कृष्ण है, ब्राह्मण शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं, ब्राह्मण ब्रह्माके श्रीरस पुत्र मुखसे उत्पन्न ब्रह्मज, ब्रह्म-निर्गत, ब्रह्म-पार्षद है, जैसे कि कलियुगवाले ये ब्राह्मण ।

खंडन—ब्राह्मण भी दूसरे वर्णोंकी भाँति प्रत्यक्ष मातृ-योनिसे उत्पन्न हुए देखे जाते हैं, (फिर ब्रह्माका श्रीरस पुत्र कहना ठीक नहीं), अतः “ब्राह्मण अग्रवर्ण है” कहना ठीक नहीं । क्या योनिसे उत्पन्न होनेके ही कारण ब्राह्मण-को अग्र मानते हो, या उसमे विद्या और सदाचारकी भी जरूरत समझते हो ? यदि योनिसे ही मानते हो, तो यजमे श्रुत-प्रधान, शील-प्रधान ब्राह्मणके लेनेकी बात क्यों करते हो ? यदि श्रुत (=विद्या) और शील (=सदाचार)को मानते हो, तो ‘ब्राह्मण अग्र वर्ण है’ कहना ठीक नहीं ।

(ण) शुद्धिवाद—जो सुन्दरिका नदीमे नहाता है, उसके नारे पाप धुल जाते हैं, इसी तरह बाहुदा, गया, सरस्वती, गंगामे नहानेसे पाप

^१ देखो दर्शनदिग्दर्शन, पृष्ठ ४८७

छूटता है। कोई उदक स्नान मात्रसे शुद्धि मानते हैं। कोई कुक्कुर व्रत (=कुक्कुरकी तरह हाथ बिना लगाये मुँहसे खाना, वैसे ही हाथ पैर करके बैठना-चलना आदि), गोव्रत, तैलमसि-व्रत, नग्न-व्रत, भस्म-व्रत, काष्ठ-व्रत, विष्ठा-व्रत जैसे व्रतोंसे शुद्धि मानते हैं; इसे शुद्धिवाद कहते हैं।

खंडन—शुद्धि आध्यात्मिक बात है, फिर वह तीर्थ-स्नानसे कैसे हो सकती है ?

(त) कौतुकमंगलवाद—सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, ग्रहो-नक्षत्रोकी विशेष स्थितिसे आदमीके मनोरथोकी सिद्धि या असिद्धि होती है। इसलिए ऐसा विश्वास रखनेवाले (=कौतुकमंगलवादी) लोग सूर्य आदिकी पूजा करते हैं, होम, जप, तर्पण, कुम्भ, वेल (=विल्व), शख आदि चढ़ाते हैं, जैसा कि जोतिसी (=गाणितिक) करते हैं।

खंडन—आप सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदिके कारण पुरुषकी सम्पत्ति-विपत्तिको मानते हैं या उसके अपने शुभ-अशुभ कर्मसे ? यदि ग्रहण आदिसे तो शुभ-अशुभ कर्म फजूल, यदि शुभ-अशुभ कर्मसे तो ग्रहणसे कहना ठीक नहीं।

४—अन्य विचार

असंगने स्कंध, द्रव्य, परमाणुके बारेमें भी अपने विचार प्रकट किए हैं।

(१) स्कंध—

(क) रूप-स्कंध या द्रव्य—रूप-समुदाय (=रूपस्कंध)में चौदह द्रव्य हैं—पृथिवी-जल-अग्नि-वायु चार महाभूत, रूप-गन्ध-गन्ध-रस-स्पर्श-द्रव्य पाँच इन्द्रिय-विषय और चक्षु-श्रोत-घ्राण-जिह्वा-काय (=त्वक्) पाँच इन्द्रियाँ।

ये द्रव्य कही-कही अकेले मिलते हैं, जैसे हीरा-शख-शिला-भूंगा आदिमें

अकेला पृथिवी-द्रव्य, चग्मा-सार-तडाग-नदी-प्रपात आदिमें मिफं अकेला जल, दीपक-उल्का आदिमें अकेला अग्नि, पुरवा-पद्मवाँ आदिमें अकेला वायु । कही दो-दो द्रव्य डकट्टा मिलते हैं, जैसे बर्फ-पत्ता-फल-फूल आदिमें और मणि आदिमें भी । कही-कही वृथादिके तप्त होनेपर तीन भी । और कही-कही चार भी, जैसे शरीरके भीतरके केशमें लेकर मल-मूत्र तकमें । खक्खट (==खटखट) होना पृथिवीका सूचक है, वहना जलका, ऊपरकी ओर जलना अग्निका और ऊपरकी ओर जाना वायुका । जहाँ जो-जो मिले, वहाँ उस महाभूतको मानना चाहिए । सभी रूप-समुदायमें सारे महाभूत रहते हैं, इसीलिए तो मूखे काठ (==पृथिवी)को मथनेमें आग पैदा होती है, अतिसतप्त लोहा-रूपा-सुवर्ण पिघल जाते हैं ।

(ख) वेदना अनुभव करनेको कहते हैं ।

(ग) संज्ञा—मज्ञा सजानन, जाननेको कहते हैं ।

(घ) संस्कार—चित्तमें संस्कारको कहते हैं ।

(ङ) विज्ञान—विज्ञानके बारेमें पहिले कहा जा चुका है ।

(२) परमाणु—बीजकी भाँति परमाणु सारे स्पी स्थूल द्रव्योंका निर्माण करते हैं, वह सूक्ष्म और नित्य होते हैं । असंग ऐसे परमाणुओंकी सत्ताका खडन करते हैं ।—

परमाणुके सचयसे रूपसमुदाय नहीं तैयार हो सकता क्योंकि परमाणुके परिमाण, अन्त, परिच्छेदका ज्ञान बुद्धि (==कल्पना) पर निर्भर है, (प्रत्यक्षपर नहीं) । परमाणु अवयव-रहित है, फिर वह सावयव द्रव्योंका निर्माण कैसे कर सकता है ? परमाणु अवयव-रहित है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि परमाणु ही अवयव है, और अवयव द्रव्यका होना है, परमाणुका नहीं ।

परमाणु नित्य है, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि इस नित्यताको परीक्षा करके किसीने सिद्ध नहीं किया । सूक्ष्म होनेसे परमाणु नित्य है, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि सूक्ष्म होनेसे तो वह अधिक दुर्बल (अनएव भगुर) होगा ।

२. दिग्नाग (४२५ ई०)

वसुवधुकी तरह दिग्नागको भी छोड़कर आगे बढ़ना नहीं चाहिए, यह मैं मानता हूँ, किंतु मैं धर्मकीर्तिके दर्शनके बारेमें उनके प्रमाणवार्तिकके आधारपर सविस्तर लिखने जा रहा हूँ। प्रमाणवार्तिक वस्तुतः आचार्य दिग्नागके प्रधान ग्रंथ प्रमाणसमुच्चयकी व्याख्या (वार्तिक) है—जिसमें धर्मकीर्तिने अपनी मौलिक दृष्टिको कितने ही जगह दिग्नागसे मतभेद रखते हुए भी प्रकट किया—इसलिए दिग्नागपर और लिखनेका मतलब पुनरुक्ति और ग्रंथविस्तार होगा। दिग्नागके बारेमें मैंने अन्यत्र^१ लिखा है—

“दिग्नाग (४२५ ई०) वसुवधुके शिष्य थे, यह तिब्बतकी परंपरासे मालूम होता है। और तिब्बतमें इस संबंधकी यह परंपराएँ आठवीं शताब्दी-में भारतसे गई थी, इसलिए उन्हें भारतीय-परंपरा ही कहना चाहिए। यद्यपि चीनी परंपरामें दिग्नागके वसुवधुका शिष्य होने का उल्लेख नहीं है, तो भी वहाँ उसके विरुद्ध भी कुछ नहीं पाया जाता। दिग्नागका काल वसुवधु और कालिदासके बीचमें हो सकता है, और इस प्रकार उन्हें ४२५ ई० के आसपास माना जा सकता है। न्यायमुखके अतिरिक्त दिग्नागका मुख्य ग्रंथ प्रमाणसमुच्चय है, जो सिर्फ तिब्बती भाषामें ही मिलता है। उसी भाषामें प्रमाण समुच्चयपर महावैयाकरण काशिकाविवरणपंजिका (==न्यास)के कर्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०)की टीका भी मिलती है।”

दिग्नागका जन्म तमिल प्रदेशके काञ्ची (=कजीवरम्)के पास “सिंहवक्त्र” नामके गाँवमें एक ब्राह्मण-घरमें हुआ था। सयाना होनेपर वह वात्सीपुत्रीय बौद्धसंप्रदायके एक भिक्षु नागदत्तके संपर्कमें आ भिक्षु बने। कुछ समय पढ़नेके बाद अपने गुरुसे उनका पुद्गल (=आत्मा) के बारेमें

^१ पुरातत्त्व-निबंधावली, पृष्ठ २१४-१५

^२ वात्सीपुत्रीय बौद्धोंके पुराने सम्प्रदायोंमें वह सम्प्रदाय है, जो अनात्मवादसे साफ इन्कार न करते भी, छिपे तौरसे एक तरहके आत्मवादका समर्थन करना चाहता था।

मतभेद हो गया, जिसके कारण उन्होंने मठको छोड़ दिया, और वह उत्तर भारतमें आ आचार्य वसुवधुके शिष्योंमें दाखिल हो गए, और न्यायशास्त्र-का विशेषतौरसे अध्ययन किया। अध्ययनके बाद उन्होंने ग्रन्थार्थोंमें प्रतिद्वन्द्वियोंपर विजय (दिग्विजय) पाने और न्यायके थोड़ेमें किन्तु गभीर ग्रन्थोंके लिखनेमें समय बिताया।

दिग्नागके प्रधान ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चयमें परिच्छेदों और श्लोकों (=कारिकाओं)की संख्या निम्न प्रकार है—

परिच्छेद	विषय	श्लोक संख्या
१	प्रत्यक्ष-परीक्षा	४८
२	स्वार्थानुमान-परीक्षा	५१
३	परार्थानुमान-परीक्षा	५०
४	दृष्टान्त-परीक्षा	२१
५	अपोह-परीक्षा	५२
६	जाति-परीक्षा	२५
		<u>२४७</u>

प्रमाण-समुच्चयका मूल संस्कृत अभी तक नहीं मिल सका है, मैंने अपनी चार तिब्बत-यात्राओंमें इस ग्रन्थके ढूँढ़नेमें बहुत परिश्रम किया, किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली, किन्तु मुझे अब भी आशा है, कि वह तिब्बतके किसी मठ, स्तूप या मूर्तिके भीतरसे जरूर कभी मिलेगा।

प्रमाणसमुच्चयके प्रथम श्लोकमें दिग्नागने ग्रन्थ लिखनेका प्रयोजन इस प्रकार लिखा है—

“जगत्के हितैषी प्रमाणभूत उपदेष्टा । बृद्धो नमस्कार कर,
जहाँ-तहाँ फैले हुए अपने मतोंको यहाँ एक जगह प्रमाणमिद्विके लिए
जमा किया जायेगा।”

“प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे मुगताय तायिने ।

प्रमाणसिद्धयै स्वमतात् समुच्चयः करिष्यते विप्रमितादितैः ।”

दिग्नागने अपने ग्रंथोंमें दूसरे दर्शनो और वात्स्यायनके न्यायभाष्यकी तो इतनी तर्कसगत आलोचना की है, कि वात्स्यायनके भाष्यपर पाशुप-ताचार्य उद्योतकर भारद्वाजको सिर्फ उसका उत्तर देनेके लिए न्यायवार्त्तिक लिखना पडा ।^१

३. धर्मकीर्त्ति (६०० ई०)

डाक्टर श्चेर्वास्कीके शब्दोमे धर्मकीर्त्ति भारतीय कान्ट थे । धर्मकीर्त्तिकी प्रतिभाका लोहा उनके पुराने प्रतिद्वदी भी मानते थे । उद्योतकर (५५० ई०)के “न्यायवार्त्तिक”को धर्मकीर्त्तिने अपने तर्कशरसे इतना छिन्न-भिन्न कर दिया था, कि वाचस्पति (८४१)ने उसपर टीका^२ करके (धर्मकीर्त्तिके) “तर्कपक्वमे-मग्न उद्योतकरकी अत्यन्त बूढ़ी गायोके उद्धार करने”का पुण्य प्राप्त करना चाहा । जयन्त भट्ट (१००० ई०)ने धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोके कड़े आलोचक होते हुए भी उनके “सुनिपुणबुद्धि” होने, तथा उनके प्रयत्नको “जगदभिभव-धीर” माना ।^३ अपनेको अद्वितीय कवि और दार्शनिक समझनेवाले श्रीहर्ष (११६२ ई०)ने धर्मकीर्त्तिके तर्कपथको “दुराबाध”^४ कहकर उनकी प्रतिभाका समर्थन किया । वस्तुतः धर्म-

^१ यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद ।

कुतर्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते, तस्य मया निबन्धः ॥

—न्यायवार्त्तिक १।१।१

^२ न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका १।१।१

^३ इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः पदयुगलमपीदं निर्ममे नानवद्यम् ।

भवतु सतिमहिम्नश्चेष्टितं दृष्टमेतज्जगदभिभवधीरं धीमतो धर्मकीर्त्तेः।

—न्यायमंजरी, पृ० १००

^४ दुराबाध इव चायं धर्मकीर्त्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति ॥

—खण्डनखण्डखाद्य १

कीर्तिकी प्रतिभाका लोहा तबसे ज्यादा आजकी विद्वन्मंडली मान सकती है, क्योंकि आजकी दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रगतिमें उनके मूल्यको वह ज्यादा समझ सकते हैं ।

१. जीवनी—धर्मकीर्तिका जन्म चोल (=उत्तर तमिल) प्रान्तके तिरुमलै नामक ग्राममें एक ब्राह्मणके घरमें हुआ था । उनके पिताका नाम तिव्वती परपरामे कोत्तनन्द (?) मिलता है, और किमी-किसीमें यह भी कहा गया है, कि वह कुमारिलभट्टके भाजे थे । यदि यह ठीक है—जिनकी बहुत कम संभावना है—तो मामाके तकौका भाजेने जिस तरह प्रमाण-वार्तिकमें खडन करते हुए मार्मिक परिहास किया है, वह उन्हें मजीब हान्य-प्रिय व्यक्तिके रूपमें हमारे सामने ला रखता है । धर्मकीर्ति वचनसे ही बड़े प्रतिभाशाली थे । पहिले उन्होंने ब्राह्मणोंके शास्त्रों और वेदो-वेदांगोंका अध्ययन किया । उस समय बौद्धधर्मकी ध्वजा भारतके कोने-कोनेमें फहरा रही थी, और नागार्जुन, वसुवधु, दिग्नागका बौद्धदर्शन विरोधियोंमें प्रतिष्ठा पा चुका था । धर्मकीर्तिको उसके वारेमें जाननेका मौका मिला और वह उससे इतने प्रभावित हुए कि तिव्वती परपराके अनुसार उन्होंने बौद्ध गृहस्थोंके वेषमें बाहर आना जाना शुरू किया (?), जिसके कारण ब्राह्मणोंने उनका वहिष्कार किया । उस वक्त नालन्दाकी ख्याति भारतमें दूर-दूर तक फैली हुई थी । धर्मकीर्ति नालंदा चले आये और अपने समयके महान विज्ञानवादी दार्शनिक तथा नालन्दाके मध-स्थविर (=प्रधान) धर्मपालके शिष्य बन भिक्षुसंघमें सम्मिलित हुए ।

धर्मकीर्तिकी न्यायशास्त्रके अध्ययनमें ज्यादा रुचि थी, और उने उन्होंने दिग्नागकी शिष्य-परपराके आचार्य ईश्वरसेनमें पढा ।

विद्या समाप्त करनेके बाद उन्होंने अपना जीवन ग्रंथ लिखने शान्दायं करने और पढनेमें बिताया ।

(धर्मकीर्तिका काल ६०० ई०)¹—“जीनी पर्यटक उ-विडने धर्म-

¹ मेरी “पुरातत्त्वनिष्पादनी”, पृष्ठ २१५-१७

कीर्तिका वर्णन अपने ग्रंथमें किया है, इसलिए धर्मकीर्ति ६७६ ई०से पहिले हुए, (इसमें सदेह नहीं) । . . धर्मकीर्ति नालदाके प्रधान आचार्य धर्मपालके शिष्य थे । युन्-च्वेडके समय (६३३ ई०) धर्मपालके शिष्य गीलभद्र नालंदाके प्रधान आचार्य थे, जिनकी आयु उस समय १०६ वर्षकी थी । ऐसी अवस्थामें धर्मपालके शिष्य धर्मकीर्ति ६३५ ई०में बच्चे नहीं हो सकते थे । . . . (धर्मकीर्तिके वारेमें) युन्-च्वेडकी चुप्पीका कारण हो सकता है युन्-च्वेडके नालन्दा-निवासके समयसे पूर्वही धर्मकीर्तिका देहान्त हो चुका होना हो । . . . ”

यह और दूसरी बातोंपर विचारते हुए धर्मकीर्तिका समय ६०० ई० ठीक मालूम होता है ।

२. धर्मकीर्तिके ग्रंथ—धर्मकीर्तिने अपने ग्रंथ सिर्फ प्रमाण-संबद्ध बौद्धदर्शन या बौद्ध प्रमाणशास्त्रपर लिखे हैं । इनकी सख्या नौ है, जिनमें सात मूल ग्रंथ और दो अपने ही ग्रंथोंपर टीकाए हैं ।

ग्रंथनाम	ग्रंथपरिमाण (श्लोकोमें)	गद्य या पद्य
१. प्रमाणवार्तिक	१४५४ $\frac{१}{३}$	पद्य
२. प्रमाणविनिश्चय	१३४०	गद्य-पद्य
३. न्यायविन्दु	१७७	गद्य
४. हेतुविन्दु	४४४	गद्य
५. सर्वध-परीक्षा	२६	पद्य
६. वाद-न्याय	७६८	गद्य-पद्य
७. सन्तान्तर-सिद्धि	७२	पद्य
	<u>४३१४$\frac{१}{३}$</u>	

टीकाए—

१. (८) वृत्ति	३५००	गद्य	प्रमाणवार्तिक	१	परि- च्छेदपर ।
२ (६) वृत्ति ,	<u>१४७</u>	गद्य	सर्वधपरीक्षापर		
	३६४७				

गोया धर्मकीर्तिने मूल ग्रीर टीका मिलाकर (४३१४१ + ३६८३) ७९६१३ श्लोको^१ के बराबर ग्रंथ लिखे हैं। धर्मकीर्तिके ग्रंथ कितने महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे, यह हमीसे पता लगता है कि तिब्बती भाषामें अनुवादित बौद्ध न्यायके कुल मस्कृत ग्रंथोंके १७५००० श्लोकोंमें १३७००० धर्मकीर्तिके ग्रंथोंकी टीका-अनुटीकाओंके हैं।^२

^१ श्लोकसे ३२ अक्षर समझना चाहिए।

^२ टीकाएं इस प्रकार हैं—

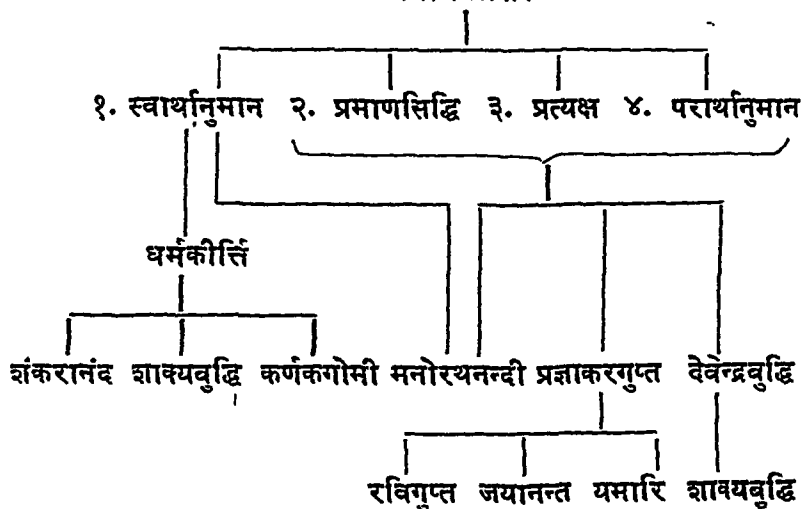
मूल ग्रंथ	टीकाकार	किम परिच्छेदपर ग्रंथ-परिमाण
१. प्रमाण- वार्त्तिक	१. देवेन्द्रबुद्धि (पजिका) T	२-४ =, ७४ =
	२. शाक्यबुद्धि (पंजिका-टीका) T	२-४ १७, ०४६
	३. प्रज्ञाकरगुप्त (भाष्य) ST	२-४ १६, २७६
	४. जयानन्त (भाष्यटीका) T	२-४ १८, १४ =
	५. यमारि (भाष्यटीका) T	२-४ २६, ५५२
	६. रविगुप्त (भाष्यटीका) T	२-४ ७, ५५२
	७. मनोरयनन्दी (वृत्ति) S	१-४ =, ०००
	८. धर्मकीर्ति (स्ववृत्ति) TS	१ ३, ५००
	९. शंकरानन्द (स्ववृत्ति-टीका) T	१ ७, ५७ =
	(अपूर्ण)	
	१०. कर्णकगोमी (स्ववृत्ति-टीका) S	१ १०, ०००
	११. शाक्यबुद्धि (स्ववृत्ति-टीका) T	१ .
२. प्रमाण- विनिश्चय	१. धर्मोत्तर (टीका) T	१-३ १२, ४६३
	१. ज्ञानश्री (टीका) T	३, २७१
३. न्यायविन्दु	१. विनीतदेव (टीका) T	१-३ १, ०३०
	२. धर्मोत्तर (टीका) TS	१-३ १, ४७७
	३. दुर्वैकमिश्र (अनु-टीका) S	१-३ . .
	४. कमलशील (टीका) T	२२१

	५. जिनमित्र (टीका) T		३१
४. हेतुविन्द	१. विनीतदेव (टीका) T	१-४	२,२६८
	२. अर्चट (विवरण) TS	१-४	१,७६८
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका) T	१-४	"
५. तबंध- परीक्षा	१. धर्मकीर्त्ति (वृत्ति) T		१४७
	५. विनीतदेव (टीका) T		५४८
	३. शंकरानंद (टीका) T		३८४
६. वादन्याय	१. विनीतदेव (टीका) T		६०६
	२. शान्तरक्षित (टीका) TS		२,६००
७. सन्ताना- न्तर-सिद्धि	१. विनीतदेव (टीका) T		४७४

I. T. तिब्बती भाषानुवाद उपलब्ध; S=संस्कृत मूल, मौजूद ।

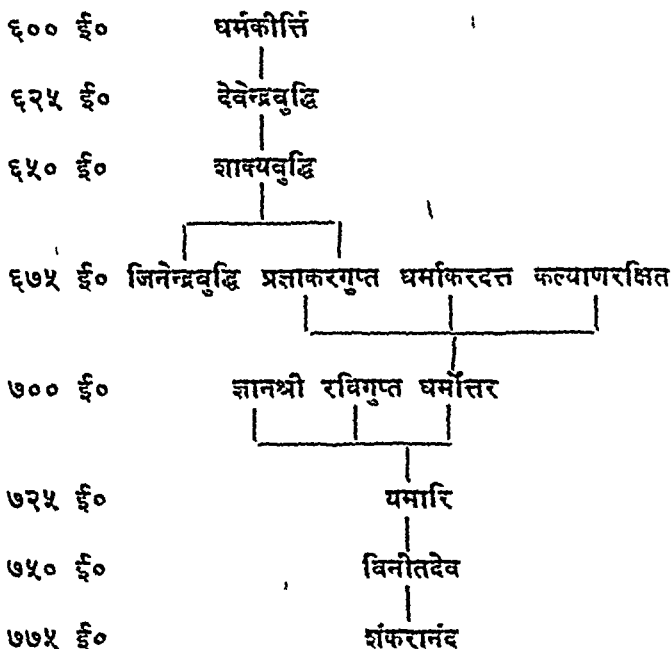
II. प्रमाणवार्त्तिकके टीकाकारोंका क्रम इस प्रकार है—

प्रमाणवार्त्तिक



(प्रमाणवार्त्तिक)—यह कह चुके हैं, कि धर्मकीर्तिकी प्रमाण-वार्त्तिक दिग्भागके प्रमाणसमुच्चयकी एक स्वतंत्र व्याख्या है। प्रमाणसमुच्चयके छै परिच्छेदोको हम बतला चुके हैं। प्रमाणवार्त्तिकके चार परिच्छेदोके विषय प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष-स्वार्थानुमान प्रमाण, और परार्थानुमान-प्रमाण हैं; किन्तु आमतौरसे पुस्तकोमें यह क्रम पाया जाता है—स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष और परार्थानुमान। यह क्रम गलत है यह समझनेमें दिक्कत नहीं होती, जब हम देखते हैं कि प्रमाणसमुच्चयके जिस भागपर प्रमाणवार्त्तिक लिखा गया है, वह किस क्रमसे है। इनके लिए देखिए, प्रमाणसमुच्चयके भाग और उसपरके प्रमाण-वार्त्तिको—

III. कालके साथ धर्मकीर्तिकी शिष्य-परंपरा—



प्रमाणसमुच्चय	परिच्छेद	प्रमाणवार्तिक	परिच्छेद (होना चाहिए)
मगलाचरण ^१	१।१	प्रमाणसिद्धि	(१)
प्रत्यक्ष	१	प्रत्यक्ष	(२)
स्वार्थानुमान	२	स्वार्थानुमान	(३)
परार्थानुमान	३	परार्थानुमान	(४)

प्रमाणसमुच्चयके वाकी परिच्छेदो—दृष्टान्त^२, अपोह^३, जाति^४ (=सामान्य)-परीक्षाओ—के वारेंमें अलग परिच्छेदोमे न लिखकर धर्म-कीर्त्तिने उन्हे प्रमाणवार्तिकके इन्ही चार परिच्छेदोमे प्रकरणके अनुकूल बाँट दिया है ।

न्यायविन्दु तथा धर्मकीर्त्तिके दूसरे ग्रंथोंमे भी प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमानके युक्तिसंगत क्रमको ही माना गया है, और मनोरथनन्दीने प्रमाणवार्तिकवृत्तिमें यही क्रम स्वीकार किया है; इसलिए भाष्यो, पञ्जिकाओ, टीकाओ या मूलपाठोमें सर्वत्र स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष, परार्थानुमानके क्रमको देखनेपर भी ग्रंथकारका क्रम यह नहीं बल्कि मनोरथनन्दी द्वारा स्वीकृत क्रम ही ठीक सिद्ध होता है । क्रममें उलटपुलट हो जानेका कारण धर्मकीर्त्तिकी स्वार्थानुमानपर स्वरचित वृत्ति है । उनके गिष्य देवेन्द्रबुद्धिने ग्रंथकारकी वृत्तिवाले स्वार्थानुमान परिच्छेदको छोड़कर अपनी पञ्जिका लिखी, जिससे आगे वृत्ति और पञ्जिकाको अलग-अलग रखने-के लिए प्रमाणवार्तिकको दो भागोमें कर दिया गया । इस विभागको और स्थायी रूप देनेमें प्रज्ञाकरगुप्तके भाष्य तथा देवेन्द्रबुद्धिकी पञ्जिकावाले तीनों परिच्छेदोके चुनावने सहायता की । इस क्रमको सर्वत्र प्रचलित देख-कर मूल कारिकाकी प्रतियोमें भी लेखकोको वही क्रम अपना लेना पड़ा ।

^१ देखो पृ० ६६२ फुटनोट

^२ प्र० वा० ३।३७, ३।१३६

^३ वहीं २।१६३-७३

^४ वहीं २।५-५५; २।१४५-६२; ३।५५-

१६१; ४।१३३-४८; ४।१७६-८८

यद्यपि मनोरथनदी द्वारा स्वीकृत क्रमके अनुसार उनकी वृत्तिको मने सम्पादित किया है, और वह उपलभ्य है, तो भी मूल प्रमाणवार्तिकको मने सर्वस्वीकृत तथा तिब्बती-अनुवाद और तालपत्रमे मिले क्रममे सम्पादित किया है, और प्रज्ञाकर गुप्तका प्रमाणवार्तिक-भाष्य (वार्निकानकार) उसी क्रमसे सस्कृतमें मिला प्रकाशित होनेके लिए तैयार है, इनलिङ्ग मने भी यहाँ परिच्छेद और कारिका देनेमें उम्मी सर्वस्वीकृत क्रमको स्वीकार किया है ।

धर्मकीर्तिके दार्शनिक विचारोपर लिखते हुए प्रमाणवार्तिकमें आगे मुख्य-मुख्य विषयोपर हम आगे कहने ही वाले है, तो भी यहाँ परिच्छेदके क्रममे मुख्य विषयोको दे देते है—

विषय	परिच्छेद कारिका	विषय परिच्छेद कारिका
पहिला परिच्छेद (स्वार्थानुमान)		तीसरा परिच्छेद (प्रत्यक्षप्रमाण)
१ ग्रन्थका प्रयोजन १।१	१ प्रमाण दो ही—	
२ हेतुपर विचार १।३	प्रत्यक्ष, अनुमान ३।३	
३ अभावपर विचार १।५	२ परमार्थ सत्य और	
(+४।१२६)	व्यवहार सत्य ३।३	
४. शब्दपर विचार १।१८६	३ सामान्य कोई वस्तु नहीं ३।३	
५ शब्द प्रमाण नहीं १।२१४	(+४।१३१)	
६ अपौरुषेय वेद प्रमाण	४ अनुमान प्रमाण ३।५५	
नहीं १।२२५	५ प्रत्यक्ष प्रमाण ३।१०३	
दूसरा परिच्छेद (प्रमाणसिद्धि)	६ प्रत्यक्षके भेद ३।१६१	
१ प्रमाणका लक्षण २।१		
२. बुद्धके वचन क्यो	७ प्रत्यक्षाभास कौन है ? ३।२००	
माननीय है । २।२६	८ प्रमाणका फल ३।३००	

चौथा परिच्छेद

(परार्थानुमान)

१ परार्थानुमानका लक्षण	४।१
२ पक्षपर विचार	४।१५
३. शब्द प्रमाण नहीं है	४।४८
४. सामान्य कोई वस्तु नहीं	४।१३१ (+३।३)
५. पक्षके दोष	४।१४१
६. हेतुपर विचार	४।१८६
७ अभावपर विचार	४।१२६ (+१।५)
८. भाव क्या है ?	४।२८

३. धर्मकीर्तिका दर्शन—धर्मकीर्तिने सिर्फ प्रमाण (न्याय) शास्त्र ही पर सातो ग्रंथ लिखे है, और उन्हे दर्शनके बारेमे जो कुछ कहना था, उसे इन्ही प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथोमे कह दिया। इन सात ग्रंथोमे प्रमाणवार्तिक (१४५४^१ “श्लोक”), प्रमाणविनिश्चय (१३४० “श्लोक”), हेतुबिन्दु (४४४ “श्लोक”), न्यायबिन्दु (१७७ “श्लोक”) के प्रतिपाद्य विषय एक ही है, और उनमे सबसे बड़ा और संक्षेपमे अधिक बातोपर प्रकाश डालने-वाला ग्रंथ प्रमाणवार्तिक है। वादन्यायमे आचार्यने अक्षपादके अठारह निग्रहस्थानोकी भारी भरकम सूचीको फजूल बतलाकर, उसे आधे श्लोकमें कह दिया है^१—

“निग्रह (=पराजय) स्थान है (वादके लिए) अ-साधन, वातका कथन और (प्रतिवादीके) दोषका न पकड़ना।”

सम्बन्ध-परीक्षाकी २६ कारिकाओमे धर्मकीर्तिने क्षणिकवादके अनुसार कार्य-कारण सबध कैसे माना जा सकता है, इसे बतलाया है, यह विषय प्रमाणवार्तिकमे भी आया है।

^१ “असाधनांगवचनं अदोषोद्भावनं द्वयोः।” — वादन्याय, पृष्ठ १

सन्तान्तरसिद्धिके ७२ सूत्रोमे धर्मकीर्तिने पहिले तो उन मन-मन्तान (मन एक वस्तु नही बल्कि प्रतिक्षण नष्ट और नई उत्पन्न होनी मन्तान = घटना है) से परे भी दूसरी-दूसरी मन-सन्ताने (मन्तानान्तर) है उमे निद्र किया है, और अन्तमे बतलाया है कि ये सब मन (=विज्ञान)-मन्ताने किस प्रकार मिलकर दृश्य जगत्को (विज्ञानवादके अनुसार) बाहर धेप करती है। विज्ञानवादकी चर्चा प्रमाणवात्तिकमे भी धर्मकीर्तिने की है।

धर्मकीर्तिके दर्शनको जाननेके लिए प्रमाणवात्तिक पर्याप्त है।

(१) तत्कालीन दार्शनिक परिस्थिति—धर्मकीर्ति दिग्नागकी भाँति असगके योगाचार (विज्ञानवाद) दार्शनिक सम्प्रदायके माननेवाले थे। बमुबधु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति जैसे महान् तार्किकोंका जून्यवाद छोड़ विज्ञान-वादसे सबध होना यह भी बतलाता है, कि हेगेलकी तरह इन्हें भी अपने तर्कसम्मत दार्शनिक विचारोंके लिए विज्ञानवादकी बड़ी जरूरत थी। किन्तु धर्मकीर्ति शुद्ध योगाचार नहीं भौतानिक (या म्यानिक्) योगाचारी माने जाते हैं। भौतानिक बाहरी जगत्की नताको ही मूलतत्त्व मानने हैं और योगाचारी सिर्फ विज्ञान (=चित्त, मन)को। भौतानिक (या स्वातंत्रिक) योगाचारका मतलब है, बाह्य जगत्की प्रवाह गयी (धर्णिक) वास्तविकताको स्वीकार करते हुए विज्ञानको मूलतत्त्व मानना—ठीक हेगेलकी भाँति—जिसका अर्थ आजकी भाषामें होगा जट (=भौतिक)-तत्त्व विज्ञानका ही वास्तविक गुणात्मक परिवर्तन है। पुराने योगाचार दर्शनमें मूलतत्त्व विज्ञान (चित्त) का विम्लेपण करके उमे दो भागोंमें बाँटा गया था—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान छै है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श—पाँचों ज्ञान-इन्द्रियोंके पाँच विज्ञान (=ज्ञान), जो कि विषय तथा इन्द्रियके सम्पर्क होते वक्त रग, आग, आदिकी कल्पना उठनेमे पहिले भान होते हैं, और छटा है मनया विज्ञान। आलय-विज्ञान उक्त छत्रो विज्ञानोंके साथ जन्मता-मरना भी अपने प्रज्ञा (=सन्तान)में नारे प्रवृत्ति-विज्ञानोंका आलय (=धर) है। उमे पहिलेके मस्कारोंकी वासना और आगे उत्पन्न होनेवाले विज्ञानोंकी वासना

रहती है। यद्यपि क्षणिकताके सदा साथ रहनेसे आलय विज्ञानमे ब्रह्म या आत्माका भ्रम नहीं हो सकता था, तो भी यह एक तरहका रहस्यपूर्ण तत्व बन जाता था, जिससे विमुक्तसेन, हरिभद्र, धर्मकीर्ति जैसे कितने ही विचारक इसमें प्रच्छन्न आत्मतत्त्वकी शका करने लगे थे, और वे आलय-विज्ञानके इस सिद्धांतको अंधेरेमे तीर चलानेकी तरह खतरनाक समझते थे।^१ धर्मकीर्तिने आलय(-विज्ञान)शब्दका प्रयोग प्रमाणवार्तिक^२मे किया है, किन्तु वह है विज्ञान साधारण—के अर्थमे, उसके पीछे वहाँ किसी अद्भुत रहस्यमयी शक्तिका ख्याल^३ नहीं है।

सन्तान रूपेण (क्षणिक या विच्छिन्नप्रवाहरूपेण) भौतिक जगत्की वास्तविकता को साफ तौरसे इन्कार तो नहीं करना चाहते थे, जैसा कि आगे मालूम होगा, किन्तु बेचारोको था कुछ धर्मसंकट भी, यदि अपने तर्कोंमे जगह-जगह प्रयुक्त भौतिक तत्वोकी वास्तविकताको साफ स्वीकार करते हैं, तो धर्मका नकाब गिर जाता है, और वह सीधे भौतिकवादी बन जाते हैं, इसीलिए स्वातंत्रिक ही सही किन्तु उन्हें विज्ञानवादी रहना जरूरी था। युरोपमे भौतिकवादको फूलने-फलनेका मौका तब मिला, जब कि सामन्तवादके गर्भसे एक होनहार जमात—व्यापारी और पूँजी-पति—बाहर निकल साइसके आविष्कारोकी सहायतासे अपना प्रभाव

^१ तिब्बती नैयायिक जम्-यङ-शद्-पा (मंजुघोषपाद १६४८-१७२२ ई०), अपने ग्रंथ “सप्तनिबंध-न्यायालंकार-सिद्धि” (अलंकार-सिद्धि)में लिखते हैं—“जो लोग कहते हैं कि (धर्मकीर्तिके) सात निबंधों (=ग्रंथों)के मन्तव्योंमें “आलय-विज्ञान” भी है, वह अन्धे हैं, अपने ही अज्ञानान्धकार-में रहनेवाले हैं।”—डाक्टर इचेर्वास्कीकी Buddhist Logic Vol. II, p. 329 के फुटनोटमें उद्धृत। ^२ ३१५२२

^३ “आलय” शब्द पुराने पाली सूत्रोंमें भी मिलता है। किन्तु वहाँ वह रुचि, अनुनय, या अध्यवसायके अर्थमें आता है। देखो “महाहत्थिपदोपम सुत्त” (मज्झिम-निकाय १।३।८); बुद्धचर्या, पृष्ठ १७६

बढ़ा रही थी, और हर क्षेत्रमें पुराने विचारोंको दबियानुसी ऋद्ध भौतिक जगत्की वास्तविकतापर आधारित विचारोंको प्रोत्साहन दे रही थी। छठी सदी ईसवीके भारतमें अभी यह अवस्था आनेमें १४ सदियोंकी जन्मन थी, किंतु इसीको कम न समझिए कि भारतीय हेगेल (धर्मकीर्ति) जर्मनीके हेगेल (१७७०-१८३१ ई०)से बारह सदियों पहिले हुआ था।

(२) तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति—यहाँ जरा उम दर्शनके पीछेकी सामाजिक भित्तियों देखना चाहिए, क्योंकि दर्शन चाहे कितना ही हाठ-माससे नफरत करते हुए अपनेको उससे ऊपर नमझे, किन्तु, है वह भी हाठ-मासकी ही उपज। वसुधैव कुटुम्बकम् धर्मकीर्ति तकका समय (४००-६०० ई०) भारतीय दर्शनके (और काव्य, ज्योतिष, चित्र-मूर्ति, वास्तुकलाके भी) चरम विकासका समय है। इस दर्शनके पीछे आप गुप्त—मौर्य—हर्ष-वर्द्धन महान् तथा दुर्ध शासित साम्राज्यका हाथ भी कहना चाहेंगे, किन्तु महान् साम्राज्य कहकर हम मूल भित्तियों प्रकाशमें नहीं लाते, बल्कि उन्हें अन्धेरेमें छिपा देते हैं। उस कालका वह महान् साम्राज्य क्या था? कितने ही सामन्त-परिवार एक बड़े सामन्त—समृद्धगुप्त, हरिवर्मा या हर्षवर्द्धन—को अपने ऊपर मान, नये प्रदेशों नये लोगोंको अपने आधीन करने या अपने आधीन जनताको दूसरेके हाथमें न जाने देनेके लिए मैनिक शासन—युद्ध—या युद्धकी तैयारी—करते, और अपने शासनमें पहिलेमें मौजूद या नवागत जमातमें “शान्ति और व्यवस्था” कायम रखनेके लिए नागरिक शासन करते थे। किन्तु यह दोनों प्रकारका शासन “पेटपन पचन चायान” सिर्फ परोपकार बुद्ध्या नहीं होता था। भावार्थ जनतामें श्रम नैतिक—जिसकी सत्ता लड़नेवालोंमें ही नहीं मरनेवालोंमें भी मन्त्र ज्ञाता थी—को

‘काव्य—कालिदास, दंडी, बाण; ज्योतिष—शार्ङ्गभट्ट, चरक-मिहिर, ब्रह्मगुप्त; चित्रकला—अजन्ता और बाण; मूर्ति—गुप्त कालिक पाषाण और पीतलमूर्तियाँ; वास्तुकला—अजन्ता, एलोराकी गुफा, देव, कोणार्कके मन्दिर।

जरूर बहुत हद तक “पेटपर पत्थर बाँधना” पड़ता था; किन्तु सेनानायक सेनापति सामन्त-खान्दानोसे आनेके कारण पहिले हीसे बड़ी सपत्तिके मालिक थे, और अपने इस पदके कारण बड़े वेतन, लूटकी अपार धनराशि, और जागीर तथा इनामके पानेवाले होते थे—गोया समुद्रमे मूसलाधार वर्षा हो रही थी। और नागरिक शासनके बड़े-बड़े अधिकारी—उपरिक (=भुक्तिका शासक या गवर्नर), कुमारामात्य (=विषयका शासक या कमिश्नर)—आनरेरी काम करनेवाले नहीं थे, वह प्रजासे भेट (=रिश्वत), सम्राट्से वेतन, इनाम और जागीर लेते थे। -

यह निश्चित है, कि आदमी जितना अपने आहार-विहार, वस्त्र-आभूषण तथा दूसरे न-टिकाऊ कामोपर खर्च करता है, उससे बहुत कम उन वस्तुओपर खर्च करता है, जो कि कुछ सदियों तक कायम रह सकती हैं। और इनमे भी अधिकांश सदियोंसे गुजरते कालके ध्वसात्मक कृत्योंसे ही नहीं बरबर मानवके क्रूर हाथोंसे नष्ट हो जाती हैं। तो भी बोधगया, वैजनाथके मन्दिर अथवा अजन्ता, एलौराके गुहाप्रासाद जो अब भी बच रहे हैं, अथवा कालिदासकी कृतियों और वाण भट्टकी कादम्बरीमें जिन नगर-अट्टालिकाओ राजप्रासादोंका वर्णन मिलता है, उनके देखने से पता लगता है कि इनपर उस समयका सम्पत्तिशाली वर्ग कितना धन खर्च करता था, और सब मिलाकर अपने ऊपर उनका कितना खर्च था। आज भी शौकीनी विलासकी चीजें महँगी मिलती हैं, किन्तु इस मशीनयुगमें यह चीजें मशीनसे बननेके कारण बहुत सस्ती हैं—अर्थात् उनपर आज जितने मानव हाथोंको काम करना पड़ता है, गुप्तकालमे उससे कई गुना अधिक हाथोंकी जरूरत पड़ती।

सारांश यह कि इस शासक सामन्तवर्गकी शारीरिक आवश्यकताओंके लिए ही नहीं बल्कि उनकी विलास-सामग्रीको पैदा करनेके लिए भी जनताकी एक भारी संख्याको अपना सारा श्रम देना पड़ता था। कितनी सख्या इसका अन्दाज इसीसे लग सकता है, कि आजसे सौ वर्ष पहिले कम्पनीके शासनमे भारत जितना धन अपने, अग्रेज शासकोंके लिए सालाना उनके

घर भेजता था, उसके उपार्जनके लिए छै कगोट आदमियों—ग नारी जनसंख्याके चौथाईसे अधिक—के श्रमकी आवश्यकता होती थी। उनके अतिरिक्त वह खर्च अलग था, जिसे अग्रेज कर्मचारी भाग्यमें गढ़ने लक्ष्मं करते थे।

यही नहीं कि जनताके आधे तिहाई भागको जानकोके लिए उस तरहकी वस्तुओंको अपने श्रमसे जुटाना पड़ता था, बल्कि उनकी काम-वासनाकी तृप्तिके लिए लाखों स्त्रियोंको वैध या अवैधरूपसे अपना नगीर बंधना पड़ता था, उनकी एक बड़ी संख्याको दामी बनकर बिकना पड़ता था। मनुष्यका दास-दामीके रूपमें सरेबाजार बिकना उस बन्धनका एक आम नजारा था।

अर्थात् इस दर्शन—कला—साहित्यके महान् युगकी मानी भव्यता मनुष्यकी पशुवत् परतन्त्रता और हृदयहीन गुलामीपर आग्राग्नि थी—यह हमें नहीं भूलना चाहिए। फिर दार्शनिक दृष्टिमें कान्तिकागीने कान्तिकागी विचारकको भी अपनी विचार-भव्यी कान्तिको उस भीमाके अन्दर गगना जरूरी था, जिसके बाहर जाते ही शामक-वर्गके कोपका भाजन—चाहे सीधे राजदठके रूपमें, उसकी कृपासे वंचित होनेके रूपमें, चाहे उनके स्थापित धर्म-मठ-मन्दिरमें स्थान न पानेके रूपमें—होना पड़ता। उस वक्त “शान्ति और व्यवस्था”की बाह् आज़ने बहुत लबी थी, जिनमें वचनेम धार्मिक सहानुभूति ही थोड़ा बहुत महायक हो गवनी थी जिनमें उनको खोया उसके जीवनका मूल्य एक घोपित डाकूके जीवनमें अधिक नहीं था।

धर्मकीर्ति जिस नालन्दाके रत्न थे, उसको गाँवों और नगरोंके रूपमें बड़े-बड़े दान देनेवाले यही सामन्त थे जिनके नामप्रपत्रपर लिखे दानपत्र आज भी हमें काफी मिले हैं। युन्-च्चेटके समय (६६० ई०)में उगरे दस हजार विद्यार्थियों और पंडितोंपर जिन तरह खुले लाखों धन खर्च किया जाता था, यह हो नहीं सकता था, कि प्रमाणवात्सित्यकी पत्तियाँ उन राजाओं को भुलाकर उन्हें काटनेपर तुल जाती, उनीलिए मगनत्रिक (मनुष्यांगी) धर्मकीर्ति भी दुखकी व्याख्या आध्यात्मिक तलने ही करने छड़ी ले लेने

है । विश्वके कारणको ईश्वर आदि छोड़ विश्वमे, उसके क्षुद्रतम तथा महत्तम अवयवोंकी क्षणिक परिवर्तनशीलता तथा गुणात्मक परिवर्तनके रूपमे ढूँढनेवाले धर्मकीर्ति दुःखके कारणको अलौकिक रूपमे—पुनर्जन्ममे—निहित बतलाकर साकार और वास्तविक दुःखके लिए साकार और वास्तविक कारणके पता लगानेसे मुँह मोड़ते हैं । यदि जनताके एक तिहाई उन दासों तथा सख्यामे कम-से-कम उनके बराबरके उन आदमियोंको—जो कि सूद और व्यापारके नफेके रूपमे अपने श्रमको मुफ्त देते थे—दासतासे मुक्त कर, उनके श्रमको सारी जनता—जिसमे वह खुद भी शामिल थे—के हितोमे लगाया जाता, यदि सामन्त परिवारों और वणिक्-श्रेष्ठी-परिवारोंके निठल्लेपन कामचोरपनको हटाकर उन्हें भी समाजके लिए लाभदायक काम करनेके लिए मजदूर किया जाता, तो निश्चय ही उस समयके साकार दुःखकी मात्रा बहुत हद तक कम होती । हाँ, यह ठीक है, कामचोरपनके हटानेका अभी समय नहीं था, यह स्वप्नचारिणी योजना उस वक्त असफल होती, इसमे सन्देह नहीं । किन्तु यही बात तो उस वक्तकी सभी दार्शनिक उड़ानोमें सभी धार्मिक मनोहर कल्पनाओंके बारेमे थी । सफल न होनेपर भी दार्शनिककी गलती एक अच्छे कामकी ओर होती है, उसकी सहृदयता और निर्भीकताकी दाद दी जाती, यदि उपेक्षा और शत्रुप्रहारसे उसकी कृतियाँ नष्ट हो जाती, तो भी खडनके लिए उद्धृत उसकी प्रतिभाके प्रखर तीर सदियोंको चीरकर मानवताके पास पहुँचते, और उसे नया सदेश देते ।

(३) विज्ञानवाद—सहृदय मस्तिष्कसे वास्तविक दुनिया (भौतिकवाद) को भुलाने-भुलवानेमे दार्शनिक विज्ञानवाद वही काम देता है, जो कि शराबकी बोलल कामसे चूर मजदूरको अपने कष्टोंको भुलवानेमे । चाहे क्रूर दासताकी सहायतासे ही सही, मनुष्यका मस्तिष्क और हृदय तब तक बहुत अधिक विकसित हो चुका था, उसमे अपने साथी प्राणियोंके लिए संवेदना आना स्वाभाविक सी बात थी । आसपासके लोगोंकी दयनीय दशाकी देखकर हो नहीं सकता था, कि वह उसे महसूस न करता, विकल न होता । जगत्को भूठा कह- इस विकलताको दूर करनेमें दार्शनिक

विज्ञानवाद कुछ सहायता जरूर करता था—आखिर अभी “दार्शनिकों का काम जगत्की व्याख्या करना था, उसे बदलना नहीं।”

धर्मकीर्ति वाह्यजगत्—भौतिक तत्वों—को अवान्मयिक बनाने हुए विज्ञान (==चित्त) को असली तत्व मानित करने है—

(क) विज्ञान ही एक मात्र तत्त्व—हम किसी वस्तु (==वपदे) को देखते हैं, तो वहाँ हमें नीला, पीला रंग तथा लंबाई, चौड़ाई-मटाई भागीपन-चिकनापन आदिको छोड़ केवल रूप (==भौतिक-तत्त्व) नहीं दिखाई पड़ता। दर्शन नील आदिके तीरपर होता है, उससे रहित (वस्तु) का (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) ग्रहण ही नहीं हो सकता और नीलादिके ग्रहणपन ही (उनका) ग्रहण होता है। इसलिए जो कुछ दर्शन है वह नील आदिके नापन है, केवल वाह्यार्थ (==भौतिक तत्त्व) के तीरपर नहीं है। जिनको हम भौतिक तत्त्व या वाह्यार्थ कहते हैं, वह क्या है उसका विन्दोपपन्न को वहाँ आँखसे देखे रंग-आकार, हाथसे छुए मृत्त-नरम-चिकनापन आदि ही मिलता है, फिर यह इन्द्रियाँ इनके इस स्थूल रूपमें अपने निजी ज्ञान (चक्षु-विज्ञान, स्पर्श-विज्ञान...) द्वारा मनको कल्पना करनेके लिए नहीं प्रदान करती। मनका निर्णय इन्द्रिय चरित ज्ञानके पन चरणपन निर्भर है; इस तरह जहाँसे अन्तिम निर्णय होता है, उन मनमें नया जिनगी दो हुई सामग्रीके आधारपर मन निर्णय करता है, उन इन्द्रियोंके विज्ञानोंमें भी, वाह्य-अर्थ (==भौतिक तत्त्व) का पता नहीं, निर्णायक स्थानपन हमें सिर्फ विज्ञान (==चेतना) ही विज्ञान मिलता है, उनलिए “वस्तु” द्वारा वही (विज्ञान) सिद्ध है, जिसने कि विचारक कहने है—“नीले-जैने अर्थों (==पदार्थों) पर चिन्तन किया जाता है, वैसे ही वैसे वह चित्त-निर्भर हो लुप्त हो जाते हैं (—उनका भौतिक रूप नहीं निश्चय होता)।”

(ख) चेतना और भौतिक तत्त्व विज्ञान हीके दो रूप—विज्ञान का भीतरी आकार चित्त—सुख आदि का आहार—है, वह तो स्पष्ट है, कि

जो बाहरी पदार्थ (= भौतिक तत्त्व घड़ा या कपड़ा) है, वह भी विज्ञानसे अलग नहीं बल्कि विज्ञानका ही एक दूसरा भाग है, और बाहरमें अवस्थित सा जान पड़ता है—इसे अभी बतला आए है । इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही विज्ञान भीतर (चित्तके तौरपर) ग्राहक, और बाहर (विषयके तौरपर) ग्राह्य भी है । “विज्ञान जब अभिन्न है, तो उसका (भीतर और बाहरके विज्ञान तथा भौतिक तत्त्वके रूपमें) भिन्न प्रतिभासित होना सत्य नहीं (भ्रम) है ।”^१ “ग्राह्य (बाह्य पदार्थके रूपमें मालूम पड़नेवाला विज्ञान) और ग्राहक (= भीतरी चित्तके रूपमें विज्ञान) मेंसे एकके भी अभावमें दोनों ही नहीं रहते (ग्राहक नहीं रहेगा, तो ग्राह्य है इसका कैसे पता लगेगा ? और फिर ग्राह्यके न रहनेपर अपनी ग्राहकताको दिखलाकर ग्राहक चित्त अपनी सत्ताको कैसे सिद्ध करेगा ? इस तरह किसी एकके अभावमें दोनों ही नहीं रहते) ; इसलिए ज्ञानका भी तत्त्व है (ग्राह्य-ग्राहक) दो होनेका अभाव (= अभिन्नता) ।”^२ जो आकार-प्रकार (बाहरी पदार्थोंकी मौजूद है, वह) ग्राह्य और ग्राहकके आकारको छोड़ (और किसी आकारमें) नहीं मिलते, (और ग्राह्य ग्राहक एक ही निराकार विज्ञानके दो रूप हैं), इसलिए आकार-प्रकारसे शून्य होनेसे (सारे पदार्थ) निराकार कहे गए हैं ।”^३

प्रश्न हो सकता है यदि बाह्य पदार्थोंकी वस्तुसत्ताको अस्वीकार करते हैं, तो उनकी भिन्नताको भी अस्वीकार करना पड़ेगा, फिर बाहरी अर्थोंके बिना “यह घड़ा है, यह कपड़ा” इस तरह जानोंका भेद कैसे होगा ? उत्तर है—

“किसी (घड़े आदि आकारवाले ज्ञान)का कोई (एक ज्ञान) है, जो कि (चित्तके) भीतरवाली वासना (= पूर्व संस्कार) को जगाता है, उसी (वासनाके जगने)में जानों (की भिन्नता)का नियम देखा जाता है, न कि बाहरी पदार्थकी अपेक्षासे ।”^४

^१ प्र० वा० ३।२१२^२ प्र० वा० ३।२१३^३ प्र० वा० ३।२१५^४ प्र० वा० ३।३३६

“चूँकि बाहरी पदार्थका अनुभव हमें नहीं होना, इसलिए एक ही (विज्ञान) दो (=भीतरी ज्ञान, बाहरी विषय) रूपोंवाला (देखा जाता) है, और दोनों रूपोंमें स्मरण भी किया जाता है। इस (एक ही विज्ञानमें बाह्य-अन्तर दोनों आकारोंके होने)का परिणाम है, स्व-मवेदन (अपने भीतर ज्ञानका साक्षात्कार)।”^१

फिर प्रश्न होता है—“(वह जो बाह्य-पदार्थके रूपमें) अवभासित होनेवाला (ज्ञान है), उसका जैसे कैसे भी जो (बाहरी) पदार्थवाला रूप (भासित हो रहा है), उसे छोड़ देनेपर पदार्थ (=वस्ते)का ग्रहण (=इन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि) कैसे होगा ? (आग्नि अपने स्वरूपके ज्ञानके साक्षात्कारसे ही तो पदार्थोंका अपना अपना ग्रहण है ?)—(प्रश्न) ठीक है, मैं भी नहीं जानता कैसे यह होता है। . जैसे मय (हेप्नाटिज्म) आदिसे जिनकी (आँख आदि) इन्द्रियोंको बाँध दिया गया है. उन्हें मिट्टीके ठीकरे (रूपया आदि) दूसरे ही रूपमें दीखते हैं, यद्यपि वह (यन्तु) उस (रूपके . . .)के रूपमें रहित है।”^२

इस तरह यद्यपि अन्तर, बाहर सभी एक ही विज्ञान तत्त्व है, किन्तु “तत्त्व-अर्थ (=वास्तविकता)की ओर न ध्यान दे हाथीरी तरह आँख मूँदकर सिर्फ लोक व्यवहारका अनुसरण करते तत्त्वज्ञानियोंको (जिनकी ही वार) बाहरी (पदार्थों)का चिन्तन (=वर्णन) करना पड़ता है।”^३

(४) क्षणिकवाद—बुद्धके दर्शनमें “मय अनित्य है” उस निष्ठानपर बहुत जोर दिया गया है, यह हम बतला आए हैं। उसी अनित्यवादको पीछेके बौद्ध दार्शनिकोंने क्षणिकवाद कहकर उसे अभावात्मकमें भावात्मक रूप दिया। धर्मकीर्तिने इसपर और जोर देते हुए कहा—“नना मानमे नाश (=धर्म) पाया जाता है।”^४ इस भावको पीछे, जालंधरी (७००

^१ प० वा० ३।३३७

^२ प्र० वा० ३।३५३-५५

^३ वहाँ ३।२१६

^४ प्र० वा० १।२७२—“सत्तामात्रानुबन्धित्वात् नाशान्व”

ई०) ने कहा है—“जो (जो) सत् (=भाव रूप) है, वह क्षणिक है।”^१
 “सभी सस्कार (=किए हुए पदार्थ) अनित्य है” इस बुद्धवचनकी ओर इशारा करते हुए धर्मकीर्त्तिने कहा है—“जो कुछ उत्पन्न स्वभाववाला है, वह नाश स्वभाववाला है।” अनित्य क्या है, इसे बतलाते हुए लिखा है—“पहिले होकर जो भाव (=पदार्थ) पीछे नहीं रहता, वह अनित्य है।”^२

इस प्रकार बिना किसी अपवादके क्षणिकताका नियम सारे भाव (=सत्ता) रखनेवाले पदार्थोंमें है।

(५) परमार्थ सत्की व्याख्या—अफलातून और उपनिषद्के दर्शनकार क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् और उसके पदार्थोंके पीछे एक अपरिवर्तनशील तत्त्वको परमार्थ सत् मानते हैं, किन्तु बौद्ध दर्शनको ऐसे इन्द्रिय और बुद्धिकी गतिसे परे किसी तत्त्वको माननेकी जरूरत न थी, इसलिए धर्मकीर्त्तिने परमार्थ सत्की व्याख्या करते हुए कहा—

“अर्थवाली क्रियामें जो समर्थ है, वही यहाँ परमार्थ सत् है, इसके विरुद्ध जो (अर्थक्रियामें असमर्थ) है, वह संवृति (=फर्जी) सत् है।”^३ घड़ा, कपड़ा, परमार्थ सत् है, क्योंकि वह अर्थक्रिया-समर्थ है, उनसे जल-आनयन या सर्दी-गर्मीका निवारण हो सकता है, किन्तु घड़ापन, कपड़ापन जो सामान्य (=जाति) माने जाते हैं, वह संवृति (=काल्पनिक या फर्जी) सत् है। क्योंकि उनसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। इस तरह व्यक्ति और उनका नानापन ही परमार्थसत् है। “(वस्तुतः सारे) भाव (=पदार्थ) स्वयं भेद (=भिन्नता) रखनेवाले हैं, किन्तु उसी संवृति (=कल्पना) से जब उनके नानापन (=अलग-अलग घड़ों) को ढाँक दिया जाता है, तो वह किसी (घड़ापन) रूपसे अभिन्नसे मालूम होने लगते हैं।”^४

^१ “यत् सत् तत् क्षणिक” —क्षण भंग १११ (ज्ञान श्री)

^२ प्र० वा० २।२८४-५

^३ वहीं ३।११०

^४ वहीं ३।३

^५ प्र० वा० १।७१

(६) नाश अहेतुक होता है—अणिकता सारे भावों (=पदार्थों) में स्वभावसे ही है, इसलिए नाश भी स्वाभाविक है, फिर नाशके लिए किसी हेतु या हेतुओंकी जरूरत नहीं—अर्थात् नाश अहेतुक है, वस्तु की उत्पत्तिके लिए हेतु या बहुतसे हेतु (=हेतु-मामूरी) चाहिए, जिनमें कि पहिले न मौजूद पदार्थ भावमें आवे । चूँकि एक मौजूद वस्तु का नाश और दूसरी ना-मौजूद वस्तुकी उत्पत्ति पास-पास होती है, इसलिए हमारी भाषामें कहनेकी यह गलत परिपाटी पड़ गई है, कि हम हेतुको उत्पन्न वस्तुसे न जोड़ नष्टसे जोड़ देते हैं । इसी तथ्यको मान्यता करने हुए धर्मकीर्ति कहते हैं—

(क) अभाव रूपी नाशको हेतु नहीं चाहिए—“यदि कोई कार्य (करणीय पदार्थ) हो, तो उसके लिए किमी (=कारण)की जरूरत हो सकती है, (नाश) जो कि (अभाव रूप होनेमें) कोई वस्तु ही नहीं है, उसके लिए कारणकी क्या जरूरत ?”^१

“जो कार्य (=कारणमें उत्पन्न) है वह अनित्य है, जो अ-कार्य (=कारणसे नहीं उत्पन्न) है वह अ-विनाशी (=नित्य) है । (वस्तु का विनाश नित्य अर्थात् हमेशाके लिए होता है, इसलिए वह अ-कार्य = अ-हेतुक है; फिर इस प्रकार) अहेतुक होनेमें वह (=नाश) स्वभावतः (वस्तुमात्रका) अनुसरण करता है ।”^२ और इस प्रकार विनाशके लिए हेतुकी जरूरत नहीं ।

(ख) नश्वर या अनश्वर दोनों अवस्थाओंमें भावके नाशके लिए हेतु नहीं चाहिए—“यदि (हम उसे अनश्वर मान लें, तब) हमारे किमी (हेतु)से भावका नाश न मानेंगे, फिर ऐसे (अनश्वर भाव)की निवृत्ति के लिए हेतुकी क्या जरूरत ? (—अर्थात् भावका होना अहेतु ही जायेगा) । (यदि हम भावको नश्वर मान लें, तो) वह हमारे (हेतुओं=कारणों) के बिना भी नष्ट होगा, (फिर उसकी) निवृत्तिके लिए हेतु अनवश्यक है ।”^३

“जो स्वयं अनश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए दूसरे स्थापककी जरूरत नहीं; जो स्वयं नश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए भी दूसरे स्थापककी जरूरत नहीं।”^१ इस तरह विनाशकी नश्वर स्वभाववाला माने या अनश्वर स्वभाववाला, दोनों हालतोंमें उसे स्थित रखनेवाले हेतुकी जरूरत नहीं।

(a) भावके स्वरूपसे नाश भिन्न हो या अभिन्न, दोनों अवस्थाओंमें नाश अहेतुक—आग और लकड़ी एकत्रित होती है, फिर हम लकड़ीका नाश और कोयले-राखकी उत्पत्ति देखते हैं। इसीको हम व्यवहारकी भाषामें “आगने लकड़ीको जला दिया—नष्ट कर दिया” कहते हैं, किंतु वस्तुतः कहना चाहिए “आगने कोयले-राखको उत्पन्न किया।” चूँकि लकड़ी हमारी नजरमें कोयले-राखसे अधिक उपयोगी (=मूल्यवान्) है, इसीलिए यहाँ भाषा द्वारा हम अपने लिए एक उपयोगी वस्तुको खो देनेपर ज्यादा जोर देते हैं। यदि कोयला-राख लकड़ीसे ज्यादा उपयोगी होते तो हम “आगने लकड़ीका नाश कर दिया” की जगह कहते “आगने कोयला-राखको बनाया।” वस्तुतः जंगलोमें जहाँ मजदूर लकड़ीकी जगह कोयला बनाकर बेचनेमें ज्यादा लाभ देखते हैं, वहाँ “क्या काम करते हो” पूछनेपर यह नहीं कहते कि “हम लकड़ीका नाश करते हैं,” बल्कि कहते हैं “हम कोयला बनाते हैं।” ताताके कारखानेमें (लोहेवाले) पत्थरका नाश और लोहे या फौलादका उत्पादन होता है; किन्तु वहाँ नाशको स्वाभाविक (=अहेतुक) समझकर उसकी बात न कह, यही कहा जाता है, कि ताता प्रति वर्ष इतने करोड़ मन लोहा और इतने लाख मन फौलाद बनाता है। इसी भावको हमारे दार्शनिकने समझानेकी कोशिश की है।

प्रश्न है—आग (=कारण, हेतु) क्या करती है लकड़ीका विनाश या कोयलेकी उत्पत्ति ? आप कहते हैं, लकड़ीका विनाश करती है। फिर सवाल होता है विनाश लकड़ीसे भिन्न वस्तु है या अभिन्न ? अभिन्न माननेपर

आग जिस विनाशको उत्पन्न करती है वह काष्ठ ही हुआ, फिर तो “विनाश होनेका मतलब काष्ठका होना हुआ, अर्थात् काष्ठका विनाश नहीं हुआ, फिर काष्ठके अविनाशसे काष्ठका दर्शन होना चाहिए। “यदि (यहों) वही (आगसे उत्पन्न वस्तु काष्ठका) विनाश है, (उमलिए काष्ठका दर्शन नहीं होता, तो फिर प्रश्न होगा—) “कैसे (विनाशरूपी) एक पदार्थ (काष्ठ रूपी) दूसरे (पदार्थ)का विनाश होगा ? (और यदि नान एक भाव पदार्थ है, तो) काष्ठ क्यों नहीं दिखाई देता ?”^१

(b) विनाश एक भिन्न ही भावरूपी वस्तु है यह माननेसे भी काम नहीं चलता—यदि कही, विनाश (भिन्न काष्ठका अभाव नहीं बतिका) एक दूसरा ही भावरूपी पदार्थ है, और “उन (भाव रूपी विनाश नामवाले दूसरे पदार्थ)के द्वारा ढँका होनेसे (काष्ठ हमें नहीं दिखाई देता), (तो यह भी ठीक नहीं), उम (एक दूसरे भाव=नाश)ने (काष्ठका) आवरण (=आच्छादन) नहीं हो सकना, क्योंकि (ऐसा माननेपर नाशकी वस्तुका आवरण मानना पड़ेगा, फिर तो यह) विनाश ही नहीं रह जायेगा (=विनष्ट हो जायगा)”^२ और इस प्रकार आग काष्ठके विनाशको उत्पन्न करती है, कामके अभावमें यह कहना भी गलत है।

और यदि आग द्वारा नाशकी उत्पत्ति माने, तो “उत्पन्न होनेके कारण” उसे नाशमान मानना पड़ेगा, क्योंकि जितने उत्पत्तिमान् भाव (=पदार्थ) हैं, सभी नाशमान होते हैं। “और फिर (नाशमान होनेसे जब नष्ट हो जाता है) तो (आवरण-मुक्त होनेसे) काष्ठका दर्शन होना चाहिए।

यदि कहो—नाश रूपी भाव पदार्थ काष्ठका हुला है। रामने श्यामको मार डाला (=नष्ट कर दिया), फिर न्यायाधीन रामको फाँसी बना देना है; किंतु रामके फाँसी चटा देने—“हुलाके नान हो जाने—पर जैसे मृत (=नष्ट श्याम)का फिरने अस्तित्वमें आना नहीं होता, उगी तरह यहाँ

भी^{११} (नश्वर स्वभाववाले नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर भी काष्ठ फिरसे अस्तित्वमे नहीं आता) ।

किन्तु, यह दृष्टान्त गलत है ? राम श्यामके नागमे “हन्ता (=राम) = (श्यामका) मरण नहीं है,^{१२} बल्कि श्यामका मरण है अपने प्राण, इन्द्रिय आदिका नाश होना । यदि श्यामके प्राण-इन्द्रिय आदिका नाश होना हटा दिया जाये, तो श्याम जरूर अस्तित्वमे आ जायगा । किन्तु यहाँ आप ‘नाश पदार्थ=काष्ठका मरण’ मानते हैं, इसलिए नाग पदार्थके नष्ट हो जानेपर काष्ठको फिरसे अस्तित्वमें आना चाहिए ।

(c) ‘नाश=एक अभिन्न भावरूपी वस्तु’ यह माननेसे भी काम नहीं चलेगा—“यदि (मानें कि) विनाश (भावरूपी वस्तु काष्ठसे) अभिन्न है, तो ‘नाग=काष्ठ’ है । तो (काष्ठ)= (नाश=) अ-सत्, अतएव (नाशक आग) उसका हेतु नहीं हो सकती ।”

“नागको (काष्ठसे) भिन्न या अभिन्न दो छोड़ और नहीं माना जा सकता,” और हमने ऊपर देख लिया कि दोनों ही अवस्थाओंमें नागके लिए हेतु (=कारण) की जरूरत नहीं, अतएव नाश अहेतुक होता है ।

यदि कहो—“नाशके अहेतुक माननेपर (वह) नित्य होगा, फिर (काष्ठका) भाव और नाग दोनों एक साथ रहनेवाले मानने पड़ेंगे ।” तो यह शका ही गलत बुनियाद पर है, क्योंकि (नाश तो) असत् है (=अभाव) है, उसकी नित्यता कैसे होगी,^{१३} नित्य-अनित्य होनेका सवाल भाव पदार्थके लिए होता है, गदहेकी सींग—अ-सत् पदार्थ—के लिए नहीं ।

(७) कारण-समूहवाद—कार्य एकसे नहीं बल्कि अनेक कारणोंके इकट्ठा होने—कारण-सामग्री—से उत्पन्न होता है, अर्थात् अनेक कारण मिलकर एक कार्यको उत्पन्न करते हैं । इस सिद्धान्त द्वारा बौद्ध दार्शनिक जहाँ जगत्मे प्रयोगतः सिद्ध वस्तुस्थितिकी व्याख्या करते हैं, वहाँ किसी एक

ईश्वरके कर्त्तापिनका भी खडन करते हैं। साथ ही यह भी दननाते हैं कि स्थिरवाद—चाहे वह परमाणुश्रोका हो या ईश्वरका—कारणोंकी सामग्री (==इकट्ठा होनेको) अस्तित्वमें नहीं ला सकता, यह क्षणिकवाद ही है जो कि भावोंकी क्षणिकता—देश और कालमें गति—की वजहसे कारणोंकी सामग्री (==इकट्ठा होना) करा सकता है।

“कोई भी एक (वस्तु) एक (कारण)से नहीं उत्पन्न होती, वरि सामग्री (==बहुतसे कारणोंके इकट्ठा होने)में (एक या अनेक) सभी कार्योंकी उत्पत्ति होती है।”^१

“कार्योंके स्वभावो (==स्वरूपों)में जो भेद हैं, वह आकस्मिक नहीं, वल्कि कारणों (==कारण-सामग्री)में उत्पन्न होता है। उनके बिना (==कारणोंके बिना, किसी दूसरेमें) उत्पन्न होना (माने तो कार्योंके) रूप (==कोयले)को उस (आग)से उत्पन्न कैसे कहा जायगा ?”^२

“(चूँकि) सामग्री (==कारण-समुदाय)की शक्तिर्या भिन्न-भिन्न होती है, (अतः) उन्हींकी वजहसे वस्तुश्रो (==कार्यों)में भिन्न-रूपता दिखलाई पडती है। यदि वह (अनेक कारणोंकी सामग्री) भेद करनेवाली न होती, तो यह जगत् (विश्व-रूप नहीं) एक-रूप होता।”^३

मिट्टी, चक्का, कुम्हार अलग-अलग (किसी घटे जैसे भिन्न रसवाने) कार्योंके करनेमें असमर्थ हैं, किन्तु उनके (एकत्र) होनेपर पात्र होना है, इससे मालूम होता है, कि सहत (==एकत्रित) हुई उन (==क्षणिक वस्तुश्रो)में हेतुपन (==कारणपन) है, ईश्वर आदिमें नहीं, क्योंकि (ईश्वर आदिमें क्षणिकता न होनेसे) अभेद (==एक-रचना) है।”^४

(८) प्रमाणपर विचार—मानवका ज्ञान जितना ही बढ़ता गया उतना ही उसने उसके महत्त्वको समझा, और अपने जीवनके हर क्षणमें मस्तिष्कको अधिक इस्तेमाल किया। यही ज्ञानकी महिमा आगे प्रयोगिक

^१ प्र० वा० ३।५३६^२ वहीं ४।२४८^३ वहीं ४।२४६^४ वहीं २।२८

नहीं कल्पना-सिद्ध रूपमें धर्म तथा धर्म-सहायक दर्शनमें परिणत हुई, यह हम उपनिषद्कालमें देख चुके हैं ? उपनिषद्के दार्शनिकोंका जितना जोर ज्ञानपर था, बुद्धका उससे भी कहीं अधिक उसपर जोर था, क्योंकि अविद्याको वह सारी बुराईयोकी जड़ मानते थे और उसके दूर करनेके लिए आर्य-सत्य या निर्दोष ज्ञानको बहुत जरूरी समझते थे । पिछली गता-व्दियोंमें जब भारतीयोंको अरस्तूके तर्कशास्त्रके सपर्कमें आनेका मौका मिला, तो ज्ञान और उसकी प्राप्तिके साधनोंकी ओर उनका ध्यान अधिक गया, यह हम नागार्जुन, कणाद, अक्षपाद आदिके वर्णनमें देख आए हैं । वसुवधु, दिग्नाग, धर्मकीर्त्तिने इसी बातको अपना मुख्य विषय बनाकर अपने प्रमाण-शास्त्रकी रचना की । दिग्नागने अपने प्रधान ग्रंथका नाम “प्रमाणसमुच्चय” क्यों रखा, धर्मकीर्त्तिने भी उसी तरह अपने श्रेष्ठ ग्रंथका नाम प्रमाणवार्त्तिक क्यों घोषित किया, इसे हम उपरोक्त बातोंपर ध्यान रखते हुए अच्छी तरह समझ सकते हैं ।

प्रमाण—प्रमाण क्या है ? धर्मकीर्त्तिने उत्तर दिया^१—“(दूसरे जरिसे) अज्ञात अर्थके प्रकाशक, अ-विसंवादी (=वस्तु-स्थितिके विरुद्ध न जानेवाले) ज्ञानको कहते हैं ।” अ-विसंवाद क्या है ?—“(ज्ञानका कल्पनाके ऊपर नहीं) अर्थ-क्रियाके ऊपर स्थित होना ।” इसीलिए किसी ज्ञानकी “प्रमाणता व्यवहार (=प्रयोग, अर्थक्रिया)से होती है ।”^२

(प्रमाण-संख्या)—हम देख चुके हैं, अन्य भारतीय दार्शनिक शब्द, उपमान, अर्थापत्ति आदि कितने ही और प्रमाणोंको भी मानते हैं । धर्मकीर्त्ति अर्थक्रिया या प्रयोगको परमार्थ सत्की कसौटी मानते थे, इसलिए वह ऐसे ही प्रमाणोंको मान सकते थे, जो कि अर्थ-क्रियापर आधारित हो ।

“(पदार्थ—अलग-अलग लेनेपर स्व-लक्षण—शब्द आदिके प्रयोगके बिना केवल अपने रूपमें—मिलते हैं, अथवा कड़्योंके बीचके सादृश्यको

लेनेपर सामान्य लक्षण—अनेकोंमें उनके आकारकी समानता—में मिलने है, इस प्रकार) विषयके (सिर्फ) दो ही प्रकार होनेमें प्रमाण भी दो प्रमाणों का ही होता है । (इनमें पहिला प्रत्यक्ष है और दूसरा अनुमान । प्रत्यक्षता आधार वस्तुका स्वलक्षण—अपना निजी स्वरूप—है, यांग वह स्वलक्षण) अर्थक्रियामें समर्थ होता है, (अनुमानका आधार सामान्य-लक्षण—अन्य वस्तुओंमें समानरूपता—है, और यह सामान्य लक्षण अर्थक्रियामें) प्रमाण होता है ।”^१

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण—ज्ञानके साधन दो ही हैं, प्रत्यक्ष या अनुमान । प्रत्यक्ष क्या है ?—“ (इन्द्रिय, मन और विषयके संयोग होनेपर) ज्ञानात् विलकुल रहित (जो ज्ञान होता है) तथा जो (किसी दूसरे साधन द्वारा अज्ञात अर्थका प्रकाशक है वह प्रत्यक्ष है, और वह (कल्पना नहीं) सिर्फ प्रति-अक्षसे ही सिद्ध होता है ।” इस तरह प्रत्यक्ष वह अ-विनष्टा (= अर्थ-क्रियाका अनुसरण करनेवाला) अज्ञात अर्थका प्रमाणक ज्ञान है, जो कि विषयके संपर्कसे उस पहिले क्षणमें होता है, जब कि कल्पना वहाँ दखल नहीं दिया । धर्मकीर्तिने दिग्नागकी तरह प्रत्यक्षके चार भेद माने हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्वयमेवेदन-प्रत्यक्ष और वागित-प्रत्यक्ष असंगके लोक-प्रत्यक्षका पता नहीं ।

(a) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष—“चारों ओरमें ध्यान (= चिन्तन) की स्थापना (कल्पनासे मुक्त होनेके कारण) निश्चल (= स्थिति) चित्तके मादग्निता (पुरुष) रूपको देखता है, यही इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है ।” इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञानके “पीछे (जब वह) कुछ कल्पना करता है, और वह जानता है—मेरे (मनमें) ऐसी कल्पना (= यह ज्ञान आकार प्रकाशता होनेमें क्षम है) हुई थी, किन्तु (यह ज्ञान) पूर्वोक्त इन्द्रियमें (उत्पन्न) ज्ञानके बराबर नहीं होती ।” “इसीलिए सारे (चक्षु आदि वाले) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (वागित-) विशेष (मात्र) के बारेमें होते हैं, विशेष (बन्धुओंका स्वयं नामान्वय

मुक्त सिर्फ स्वलक्षण मात्र है, इसलिए उन)में शब्दोका प्रयोग नहीं हो सकता ।”^१ “इस (=घट वस्तु)का यह (वाचक, घट शब्द) है इस तरह (वाच्य-वाचकका जो)सवध (है, उस)मे जो दो पदार्थ प्रतिभासित हो रहे है, उन्ही (वाच्य-वाचक पदार्थों)का (वह) सवध है, (और जिस वक्त उस वाच्य-वाचक सवधकी ओर मन कल्पना दौड़ाता है) उस वक्त (वस्तु) इन्द्रियके सामनेसे हट गई रहती है (और मन अपने संस्कारके भीतर अवस्थित ताजे और पुराने दो कल्पना-चित्रोको मिलाकर नाम देनेकी कोशिशमे रहता है) ।”^२

“(शकर स्वामी जैसे कुछ बौद्ध प्रमाणशास्त्री, प्रत्यक्ष-ज्ञानको) इन्द्रिय-ज... होनेसे (शब्दके ज्ञानसे वचित) छोटे वच्चेके ज्ञानकी भाँति कल्पना-रहित (ज्ञान) बतलाते है, और वच्चेके (ज्ञानको इस तरह) कल्पना-रहित होनेमें (वाच्य-वाचक रूपसे शब्द-अर्थ सवधके) सकेतको कारण कहते है । ऐसोको(मतमें) कल्पनाके (सर्वथा) अभावके कारण वच्चेका (सारा ज्ञान) सिर्फ प्रत्यक्ष ही होगा; और (वच्चेको) सकेत (जानने)के लिए कोई उपाय न होनेसे पीछे (बड़े होनेपर) भी वह (=सकेत-ज्ञान) नहीं हो सकेगा ।”^३

(b) मानस-प्रत्यक्ष—दिग्नागने प्रमाणसमुच्चयमे मानस-प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हुए कहा^४—“पदार्थके प्रति राग आदिका जो (ज्ञान) है, वही (कल्पनारहित ज्ञान) मानस(-प्रत्यक्ष) है ।” मानस प्रत्यक्ष स्वतंत्र प्रत्यक्ष नहीं रहेगा, यदि “पहिलेके इन्द्रिय द्वारा ज्ञात (अर्थ)को ही ग्रहण करे, क्योंकि ऐसी दशामे (पहिलेसे ज्ञात अर्थका प्रकाशक होनेसे अज्ञात-अर्थ-प्रकाशक नहीं अतएव वह) प्रमाण नहीं होगा । यदि (इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा) अ-दृष्टको (मानस-प्रत्यक्ष) माना जाये, तो अवे आदिको भी

^१ प्र० वा० ३।१२५, १२७

^२ वहीं ३।१४१-१४२

^३ वहीं ३।१२६

^४ “मानसं चार्थरागादि ।”

(रूप आदि) अर्थोंका दर्शन (होना है यह) मानना होगा ।' उन नगना ग्यान कर धर्मकीर्ति मानन-प्रत्यक्षको व्याख्या करते हैं—

“(चक्षु आदि) उन्द्ध्यमे जो (विषयका) विज्ञान हुआ है, उमीयों अनन्तर-प्रत्यय (=तुरन्त पहिले गुजरा कारण) बना, जो मन (=चेतना) उत्पन्न हुआ है, वही (मानन-प्रत्यक्ष है) । चक्षु (चक्षु आदि उन्द्ध्यमे जात रूप आदि जानने) भिन्नको (मन प्रत्यक्षमे) ग्रहण करता है (उन्-लिंग वह जात अर्थका प्रकाशन नहीं, साथ ही मन द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले रूप आदिके विज्ञान उन्द्ध्यमे जात उन रूप आदिमेंसे सब है, जिनमें कि अर्थ आदि नहीं देख सकते, उनलिंग) आत्मके अर्थोंको (मन .) देखनेकी शक्त नहीं आती ।”

(c) स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष—दिग्भागेन उनका लक्षण करने हुए कहा—
“(चक्षु-उन्द्ध्यमे गृहीत रूपका ज्ञान मनने गृहीत रूप-विज्ञानका ज्ञान होनेसे बाद रूप आदि) अर्थके प्रति अपने भीतर जो राग (होगा) आदिता मनेन (=अनुभव) होता है, (वही) रूपना-गति (ज्ञान) स्वसंवेदन (=प्रत्यक्ष) है ।” उनके अर्थको अपने वाचिंयमे स्पष्ट करने का धर्म-कीर्तिने कहा—

“राग (मुग) आदिके जिन स्वस्पर्शों (मन अनुभव करने हैं) किमी दूसरे (उन्द्ध्य आदिमें) मद्य नहीं ग्यता, अतः उनके स्वस्पर्शों प्रति (वाच्य-वाचक) नकेतका प्रयोग नहीं हो सकता, (घोरे उनीति) उनका जो अपने भीतर संवेदन होता है, वह (वाचक शब्दमें) स्पष्ट होने वाला नहीं है ।” उस तरह अज्ञात अर्थका प्रगाना रूपना-गति तथा उदित-सवादी होनेसे राग-मुग आदिका जो अनुभव हम करने हैं, वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी उन्द्ध्य-अर्थ मानन-प्रत्यक्षमें भिन्न एक प्रत्यक्ष है । उन्द्ध्य-प्रत्यक्ष

^१ प्र० वा० ३१२३६

^२ यही ३१२४३

^३ “अर्थरागादि स्वसंवेदितस्वस्पर्श” —प्रमाण-सूचक ।

^४ प्र० वा० ३१२४८

मे हम किसी इन्द्रियके एक विषय (=रूप, गंध) का ज्ञान प्राप्त करते हैं, मानस प्रत्यक्ष हमें उससे आगे बढ़कर इन्द्रियसे जो यह ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका अनुभव कराता है, और इस प्रकार अब भी उसका सबंध विषयसे जुड़ा हुआ है। किन्तु, स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें हम इन्द्रियके (रूप-) ज्ञान और उस इन्द्रिय-ज्ञानके ज्ञानसे आगे तथा विल्कुल भिन्न राग-द्वेष, या सुख-दुःख . . . का प्रत्यक्ष करते हैं।

(d) योगि-प्रत्यक्ष^१—उपरोक्त तीन प्रकारके प्रत्यक्षोंके अतिरिक्त बौद्धोंने एक चौथा प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष माना है। अज्ञात-प्रकाशक अविस्वादी—प्रत्यक्षोंके ये विशेषण यहाँ भी लिए गए हैं, साथ ही कहा है—“उन (योगियों) का ज्ञान भावनासे उत्पन्न कल्पनाके जालसे रहित स्पष्ट ही भासित होता है। (स्पष्ट इसलिए कहा कि) काम, शोक, भय, उन्माद, चोर, स्वप्न आदिके कारण भ्रममें पड़े (व्यक्ति) अ-भूत (=अ-सत्) पदार्थोंको भी सामने अवस्थितकी भाँति देखते हैं, लेकिन वह स्पष्ट नहीं होते। जिस (ज्ञान) में विकल्प (=कल्पना) मिला रहता है, वह स्पष्ट पदार्थके रूपमें भासित नहीं होता। स्वप्नमें (देखा पदार्थ) भी स्मृतिमें आता है, किन्तु वह (जागनेकी अवस्थामें) वैसे (=विकल्परहित) पदार्थके साथ नहीं स्मरणमें आता।”^२

समाधि (=चित्तकी एकाग्रता) आदि भावनासे प्राप्त जितने ज्ञान है, सभी योगि-प्रत्यक्ष-प्रमाणमें नहीं आते; बल्कि “उनमें वही भावनासे उत्पन्न (ज्ञान) प्रत्यक्ष-प्रमाणसे अभिप्रेत है, जो कि पहिले (अज्ञात-प्रकाशक आदि) की भाँति सवादी (=अर्थक्रियाको अनुसरण करनेवाला) हो; वाकी (दूसरे, भावनासे उत्पन्न ज्ञान) भ्रम है।”^३

प्रत्यक्ष ज्ञान होनेके लिए उसे कल्पना-रहित होना चाहिए, इसपर जोर दिया गया है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक कल्पनासे रहित होना आसानीसे समझा जा सकता है, क्योंकि वहाँ हम देखते हैं कि सामने घड़ा देखनेपर नेत्रपर पड़े

^१ Intuition.^२ प्र० वा० ३।२८१-२८३^३ प्र० वा० ३।२८६

घडोके प्रतिबिम्बका जो पहिला दवाव ज्ञानननुयां द्वारा समाने मन्विष्यक पडता है, वह कल्पना-रहित होता है। पहिले दवावके बाद मन्विष्यक (=प्रतिबिम्ब) मन्विष्यकपर पडता है, फिर मन्विष्यकमे मन्विष्यकमे पहिलेके देखे घडोके जो प्रतिबिम्ब (या प्रतिबिम्ब-मन्विष्यक) मान्य है, उन्हे उम नए प्रतिबिम्ब (या जगानार पड रहे प्रतिबिम्ब-मन्विष्यक) मे मित्या जाता है—अब यहाँ कल्पनाका आरम्भ हो गया। फिर जिन प्रतिबिम्ब यह नया प्रतिबिम्ब मिल जाता है, उमके जगनार नामक मन्विष्यक होता है, फिर इस नए प्रतिबिम्बवाने पदार्थका नामकरण किया जाता है। यहाँ कहीं तक कल्पनारहित ज्ञान रहा, और यहाँसे कल्पना नए शुरू, य समझता उम प्रथम दवावके द्वारा आमान है, किन्तु यहाँ जगनार मन्विष्यक दवावकी बात नहीं रहती, यहाँ कल्पनाके आरम्भगी नीमा मित्या करनी—नामकर योगिप्रत्यक्ष जैसे ज्ञानमे—ग्रहण कठिन है। उन्हीं नए कल्पनाकी व्याख्या करते हुए धर्मकीर्तिने किया—

“जिस (विषय, वस्तु) मे जो (ज्ञान, दूसरेमे पृथक् करनेवाले) नाम-अर्थ (के संबंध) को ग्रहण करनेवाला है, वह ज्ञान उम (विषय) मे मित्या है। (वस्तुका) अपना रूप मन्विष्यक (=मन्विष्यक मित्या) नहीं होता, इसलिए वहाँका मारा (ज्ञान) प्रत्यक्ष है।”

इस तरह चाहे ज्ञानका विषय बाहरी वस्तु हो अथवा भीतरी विज्ञान, जब तक समानता असमानताको लेकर प्युक्त होनेवाले मन्विष्यक श्रवकाश नहीं मिल रहा है, तब तक वह प्रत्यक्षगी नीमा मित्या रहता है।

(प्रत्यक्षाभास)—चाह प्रमाणके प्रत्यक्षज्ञानको प्रत्यक्ष मित्या है। ज्ञान ऐसे भी है, जो प्रत्यक्ष-प्रमाण नहीं है, और देखनेमे प्रत्यक्षमे मित्या है ऐसे प्रत्यक्षाभासीका भी परिचय होना जरूरी है, जिनमे मित्या मित्या मित्या पर न चले जाये। जिनमे ऐसे प्रत्यक्षाभासीका मित्या नाम मित्या

है^१—“भ्रान्तिज्ञानं संवृत्तिमत्-ज्ञानं अनुमानानुमानिक-स्मार्ताभिलाषिक और तैमिरि ज्ञानम् ।” (१) भ्रान्तिज्ञानं मरुभूमिकी वालुकामें जलका ज्ञान है । (२) संवृत्तिवाला ज्ञान फर्जी द्रव्यके गुण आदिका ज्ञान—“यह अमुक द्रव्य है, अमुक गुण है ।” (३) अनुमान (=लिंग, धूम) आनुमानिक (=लिंगी आग)के संकेतवादी स्मृतिके अभिलाष (=वचनके विषय) वाला ज्ञान—“यह घड़ा है ।” (४) तैमिरि ज्ञान वह ज्ञान है जो कि इन्द्रियमें किसी तरहके विकारके कारण होता है, जैसे कामला रोगवालेको सभी चीजें पीली मालूम होती हैं । इनमें पहिले “तीन प्रकारके प्रत्यक्षाभास कल्पना-युक्त ज्ञान है, (जो कल्पनायुक्त होनेके कारण ही प्रत्यक्षके भीतर नहीं गिने जा सकते); और एक (=तैमिरि) कल्पना-रहित है किन्तु आश्रय (=इन्द्रिय)में (विकार होनेके कारण उत्पन्न होता है) इस लिए प्रत्यक्ष ज्ञानमें नहीं आ सकता—ये हैं चार प्रकारके प्रत्यक्षाभास ।”^२

(ख) अनुमान-प्रमाण—अग्निका ज्ञान दो प्रकारसे हो सकता है, एक अपने स्वरूपसे, जैसा कि प्रत्यक्षसे देखनेपर होता है, दूसरा, दूसरेके रूपसे, जैसे धुआँ देखनेपर एक दूसरी (=रसोईघरकी) आगका रूप याद आता है, और इस प्रकार दूसरेके रूपसे इस धुएँके लिंग (=चिह्न) वाली आगका ज्ञान होता है—यह अनुमान है । चूँकि पदार्थका “स्वरूप और पर-रूप दो ही तरहसे ज्ञान होता है, अतः प्रमाणके विषय (भेद) दो ही प्रकारके होते हैं”^३—एक प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय और दूसरा अनुमानका विषय ।

किन्तु “(जो स्वरूपसे, अनुमान ज्ञान होता है, वह जैसी (वस्तुस्थिति) है, उसके अनुसार नहीं लिया जाता, इसलिए (यह) दूसरे तरहका (ज्ञान) भ्रान्ति है । (फिर प्रश्न होता है) यदि (वस्तुका अपने-नहीं) पर-रूपसे

^१ “भ्रान्तिसंवृत्तिसंज्ञानं अनुमानानुमानिकम् । स्मार्ताभिलाषिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम् ।”—प्रमाण-समुच्चय ।

^२ प्र० वा० ३।२८८

^३ प्र० वा० ३।५४

ज्ञान होता है, तो (वह भ्रान्ति है) और भ्रान्तिको प्रमाण नहीं कह सकते (क्योंकि वह अ-विसवादी नहीं होगी) । (उत्तर है—) भ्रान्तिको भी प्रमाण माना जा सकता है, यदि (उस ज्ञानका) अभिप्राय (जिस अर्थसे है, उस अर्थ)से अ-विसवाद न हो (=उसके विरुद्ध न जाये, क्योंकि) दूसरे रूपसे पाया ज्ञान भी (अभिप्रेत अर्थका सवादी) देखा जाता है ।” यही पहाड़मे देखे धुएँवाली आगके ज्ञानको हम अपने रूपसे नहीं पा, रमोईधर वाली आगके रूपके द्वारा पाते हैं, परन्तु हमारे इस अनुमान ज्ञानसे जो अभिप्रेत अर्थ (पहाड़की आग) है, उससे उसका विरोध नहीं है ।

(a) अनुमानकी आवश्यकता—“वस्तुका जो अपना स्वरूप (=स्वलक्षण) है, उसमे कल्पना-रहित प्रत्यक्ष प्रमाणकी जरूरत होती है (यह बातला चुके हैं) ; किन्तु (अनेक वस्तुओंके भीतर जो) सामान्य है, उसे कल्पनाके बिना नहीं ग्रहण किया जा सकता इसलिए इस (सामान्यके ज्ञान)मे अनुमानकी जरूरत पड़ती है ।”^१

(b) अनुमानका लक्षण—किसी “सवधी (पदार्थ, धूममे भवव रखनेवाली आग)के धर्म (=लिंग, धूम)से धर्मी (=वर्मवाली, आग)के विषयमें (जो परोक्ष) ज्ञान होता है, वह अनुमान है ।”^२

पहाड़में हम दूरसे धुआँ देखते हैं, हमे रसोईधर या दूसरी जगह देखी आग याद आती है, और यह भी कि “जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है” फिर धुएँको हेतु बनाकर हम जान जाते हैं कि पर्वतमे आग है । यहाँ आग परोक्ष है, इसलिए उमका ज्ञान उसके अपने स्वरूपसे हमें नहीं होता, जैसा कि प्रत्यक्ष आगमे होता है; दूसरी बात है कि हमे यह ज्ञान सद्य नहीं होता, बल्कि उसमे स्मृति, शब्द-अर्थ-सवध—अर्थात् कल्पना—का आश्रय

^१ वहीं ३।५५, ५६ -

^२ प्र० वा० ३।७५

^३ वहीं ३।६२ “अट्ट संवंधवाले (दो) पदार्थों (मेंसे एक)का दर्शन उस (=संवंध)के जानकारके लिए अनुमान होता है” (अनन्तरीयकार्य-दर्शनं तद्विदोऽनुमानम्—वसुवन्धुकी वादविधि) ।

लेना पड़ता है ।

(प्रमाण दो ही)—प्रमाण द्वारा ज्ञेय (=प्रमेय) पदार्थ स्वरूप और पर-रूप (=कल्पना-रहित, कल्पना-युक्त) दो ही प्रकारसे जाने जाते हैं । इनमें पहिला प्रत्यक्ष रहते जाना जाता है, दूसरा परोक्ष (अ-प्रत्यक्ष) रहते । “प्रत्यक्ष और परोक्ष छोड़ और कोई (तीसरा) प्रमेय सम्भव नहीं है, इसलिए प्रमेयके (सिर्फ) दो होनेके कारण प्रमाण भी दो ही होते हैं । दो तरहके प्रमेयोंके देखनेसे (प्रमाणोंकी) सख्याको (बढ़ाकर) तीन या (घटाकर) एक करना भी गलत है ।”^१

(c) अनुमानके भेद—कणाद, अक्षपादने अनुमानको एक ही माना था, इसलिए अपने पूर्ववर्ती “ऋषियों”के पदपर चलते हुए प्रशस्तपाद जैसे थोड़ेसे अपवादोंके साथ आज तक ब्राह्मण नैयायिक उसे एकही मानते आ रहे हैं । अनुमानके स्वार्थ-अनुमान, परार्थ-अनुमान ये दो भेद पहिलेपहिल आचार्य दिग्नागने किया ।^२ दो प्रकारके अनुमानोंमें स्वार्थ-अनुमान वह अनुमान है, जिसमें तीन प्रकारके हेतुओं (=लिंगो, चिह्नो, धूम आदि)से किसी प्रमेयका ज्ञान अपने लिए (=स्वार्थ) किया जाता है ।^३ परार्थ-अनुमानमें उन्ही तीन प्रकारके हेतुओं द्वारा दूसरेके लिए (=परार्थ) प्रमेयका ज्ञान कराया जाता है ।

(d) हेतु (=लिंग) धर्म—पदार्थ (=प्रमेय)के जिस धर्मको हम देखकर कल्पना द्वारा उसके अस्तित्वका अनुमान करते हैं, वह हेतु है । अथवा “पक्ष (=आग)का धर्म हेतु है, जो कि पक्ष (=आग)के अश (=धर्म, धूम)से व्याप्त है ।”^४

“हेतु सिर्फ तीन तरहके होते हैं”^५—कार्य-हेतु, स्वभाव-हेतु, और अनुपलब्धि-हेतु । हम किसी पदार्थका अनुमान करते हैं उसके कार्यसे—“पहाड़में आग है धुआँ होनेसे” । यहाँ धुआँ आगका कार्य है, इस तरह

^१ प्र० वा० ३।६३, ६४

^२ धर्मोत्तर (न्यायविन्दु, पृ० ४२)

^३ देखो, न्यायविन्दु २।३

^४ प्र० वा० १।३

^५ वहीं

कार्यसे उसके कारण (=आग) का हम अनुमान करते हैं। इसलिए “धुआँ होनेसे” यह हेतु कार्य-हेतु है।

“यह सामनेकी वस्तु वृक्ष है, शीशम होनेसे” यहाँ “शीशम होनेसे” हेतु दिया गया है। वृक्ष सारे शीशमोका स्वभाव (=स्व-रूप) है, सामनेकी वस्तुको यदि हम शीशम समझने हैं, तो उसे इस स्वभाव-हेतुके कारण वृक्ष भी मानना पड़ेगा।

“मेजपर गिलास नहीं है”, “उपलब्धि-योग्य स्वरूपवाली होनेपर भी उसकी उपलब्धि न होनेसे” यह अनुपलब्धि हेतुका उदाहरण है। गिलास ऐसी वस्तु है, जो कि वहाँ होनेपर दिखाई देगा, उसके न दिखाई देने (उपलब्धि न होने) का मतलब है, कि वह मेजपर नहीं है। गिलासकी अनुपलब्धि यहाँ हेतु बनकर उसके न होनेको सिद्ध करती है।

अनुमानसे किसी बातको सिद्ध करनेके लिए कार्य-, स्वभाव-, अनुपलब्धिके रूपमें तीन प्रकारके हेतु इसीलिए होते हैं, क्योंकि हेतुवाले इन धर्मोंके बिना धर्मी (=साध्य, आग) कभी नहीं होता—इस धर्मका धर्मिकी साथ अ-विनाभाव सवध है। हम जानते हैं “जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग जरूर रहती है”, “जो जो शीशम है वह वृक्ष जरूर होता है”, “आँखमें दिखाई पड़नेवाला गिलास होनेपर जरूर दिखाई देता है, न दिखाई देनेका मतलब है नहीं होना।”

(९) मन और शरीर (क) एक दूसरेपर आश्रित—मन और शरीर अलग हैं या एक ही है, इसपर भी धर्मकीर्तिने अपने विचार प्रकट किए हैं। बौद्ध-दर्शनके बारेमें लिखते हुए हम पहिले बतला चुके हैं, और आगे भी बतलायेंगे, कि बौद्ध आत्माको नहीं मानते, उसकी जगह वह चित्त, मन और विज्ञानको मानते हैं, जो तीनोंही पर्याय हैं। मन शरीर नहीं है, किन्तु साथ ही “मन कायाके आश्रित है।”^१ इन्द्रियाँ काया (=शरीर) में होती हैं, यह हम जानते हैं, और “यद्यपि इन्द्रियोके बिना बुद्धि (=मन, ज्ञान)

नहीं होता, साथ ही इन्द्रियाँ भी बुद्धिके बिना नहीं होती, इस तरह दोनों (=इन्द्रियाँ और बुद्धि) अन्योन्य=हेतुक (=एक दूसरेपर निर्भर है), और इससे (मन और काया) का अन्योन्य-हेतुक होना (सिद्ध है)।”

(ख) मन शरीर नहीं—मन और शरीरका इस तरह एक दूसरेपर आश्रित होना—दोनोंमें अविनाभाव सबध होना—हमें इस परिणामपर पहुँचाता है, कि मन शरीरसे सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं है, वह शरीरका ही एक अंश है; अथवा मन और शरीर दोनों उन्हीं भौतिक तत्त्वोंके विकास है, अतः तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं—भूतसे ही चैतन्य है, जो चैतन्य है वह भूत है। धर्मकीर्त्ति अन्य बौद्ध दार्शनिकोंकी भाँति भूतचैतन्यवाद (भौतिकवाद या जडवाद)का खडन करते हुए कहते हैं—“प्राण=अपान (=श्वास-प्रश्वास), इन्द्रियाँ और बुद्धि (=मन)की उत्पत्ति अपनेसे समानता रखनेवाले (=सजातीय) पूर्वके कारणके बिना केवल शरीरसे ही नहीं होती। यदि इस तरहकी उत्पत्ति (=जन्मग्रहण) होती, तो (प्राण-अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाले शरीरसे उत्पन्न होनेका) नियम न रहता (और जिस किसी भूतसे जीवन=प्राण अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाला शरीर उत्पन्न होता)।”^१

जीवनवाले बीजसे ही दूसरे जीवनकी उत्पत्ति होती है, यह भी इस बातकी दलील है, कि मन (=चैतना) केवल भूतोंकी उपज नहीं है। कहीं-कहीं जीवन-बीजके बिना भी जीवन उत्पन्न होता दिखाई देता है, जैसे कि वर्षामे क्षुद्रकीट; इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

“पृथिवी आदिका ऐसा कोई अण नहीं है, जहाँ स्वेदज आदि जन्तु न पैदा होते हो, इससे मालूम होता है, सब (भूतसे उत्पन्न होती दिखाई देनेवाली वस्तुएँ) बीजात्मक हैं।”^२

“यदि अपने सजातीय (जीवनमुक्त कारण)के बिना इन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति मानी जाय, तो जैसे एक (जगहके भूत जीवनके रूपमें) परिणत

हो जाते हैं, उसी तरह सभी (मृत परिणत हो जाने चाहिए), क्योंकि (पहिले जीवन-शून्य होनेसे सभी) एकसे हैं, (लेकिन हर ककड और डनेको सजीव आदमीके रूपमें परिणत होते नहीं देखा जाता) ।^१

“वत्ती (तेल) आदिकी भाँति (कफ, पित्त आदि) दोषो द्वारा देह विगुण (=मृत) हो जाता है—यह कहना ठीक नहीं, ऐसा होता तो मरनेके बाद भी (कफ, पित्त आदि) दोषोंका गमन हो जाता है (फिर तो दोषोंके गमनसे विगुणता हट जानेके कारण मृतकों) फिर जी जाना चाहिए ।

“यदि कहो (जलाकर) आगके निवृत्त (=शान्त) हो जानेपर भी काष्ठके विकार (=कोयले या राख)की निवृत्ति (पहिले काष्ठके रूपमें परिणति) नहीं होती, उसी तरह (मृत शरीरकी भी कफ आदिके शान्त होनेपर भी सजीव शरीरके रूपमें) परिणति नहीं होती—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि चिकित्साके प्रयोगसे (जब दोषोंको हटाया जाता है, तो शरीर प्रकृतिस्थ हो जाता है किन्तु यह शरीरके मजीब होते ही होते) ।

“(दोषोंसे होनेवाले विकारोंकी निवृत्ति या अनिवृत्ति सभी जगह एकसी नहीं है) कोई वस्तु कहीं-कहीं न लौटने देनेवाले (=अनिवर्त्य) विकारकी जनक (=उत्पादक) होती है, जैसे आग काष्ठके वारेमें (अनिवर्त्य विकारकी जनक) है; और कहीं उलटा (=निवर्त्य विकार-जनक) है, जैसे (वही आग) सुवर्णमें । पहिले (काष्ठकी आग)का थोड़ा भी विकार (=काला आदि पड़ जाना) अनिवर्त्य (= लौटाया जानेवाला) है । (किन्तु दूसरे सोना-आगमें जो) लौटाया जा सकने-वाला (=प्रत्यानेय) विकार है, वह फिर (पूर्ववत् पिछले) ठोस मोनेकी तरह हो सकता है ।

“(जो कुछ) असाध्य कहा जाता है, (वह रोगो और मृत्युके कारण कफ आदि दोषोंके) निवारक (औषधों)के दुर्लभ होनेसे अथवा आयुकी

क्षयकी वजहसे (कहा जाता है) । यदि (भौतिकवादियोंके मतानुसार) केवल (भौतिक दोष ही मृत्युके कारण हो) तो (ऐसे दोषोका हटाना) असाध्य नहीं हो सकता ।

“(माना जाता है कि साँप काटनेपर जब तक जीवन रहता है, तब तक विष सारे शरीरमें फैलता जाता है, किन्तु शरीरके निर्जीव हो जानेपर विष काटे स्थानपर जमा हो जाता है; इस तरह तो यदि भूत ही चेतना होती, तो (शरीरके) मर जानेपर विष आदिके (शरीरके अन्य स्थानोंसे हटकर एक स्थानपर) जमा होनेसे (शरीरके बाकी स्थानों) अथवा कटे (स्थान)के काट डालनेसे (बाकी शरीरमें निर्जीवितारूपी) विकारके हेतु (=विष)के हट जानेसे वह (शरीर) क्यों नहीं साँस लेने लगता ? (इससे पता लगता है कि चेतना भूत ही नहीं है, बल्कि उससे भिन्न वस्तु है; यद्यपि दोनों एक दूसरेके आश्रित होनेसे अलग-अलग नहीं रह सकते) ।

“(भूतसे चेतनाकी उत्पत्ति माननेपर भूत उपादान और चेतना उपादेय हुई फिर) उपादान (=शरीर)के विकारके विना उपादेय (=चेतना)में विकार नहीं किया जा सकता, जैसे कि मिट्टीमें विकार विना (मिट्टीके बने) कसोरे आदिमें (विकार नहीं किया जा सकता) । किसी वस्तुके विकार-युक्त हुए विना जो पदार्थ विकारवान् होता है, वह वस्तु उस (पदार्थ)का उपादान नहीं (हो सकती); जैसे कि (एकके विकारके विना दूसरी विकार-युक्त होनेवाली) गाय और नीलगायमें (एक दूसरेका उपादान नहीं हो सकती); इसी तरह मन और शरीरकी भी (वात है, दोनोंमेंसे एकके विकार-युक्त हुए विना भी दूसरेमें विकार देखा जाता है) ।”^१

(ग) मनका स्वरूप—“स्वभावसे मन प्रभास्वर (=निर्विकार) है, (उसमें पाए जानेवाले) मल आगन्तुक (आकाशमें अन्धकार, कुहरा आदिकी भाँति अपनेसे भिन्न) हैं ।”^२

४—दूसरे दार्शनिकोंका खंडन

धर्मकीर्तिने अपने ग्रंथ प्रमाण-वार्तिकमें अपने दार्शनिक सिद्धान्तोंका समर्थन और प्रतिपादन ही नहीं किया है, बल्कि उन्होंने अपने समय तककी हिन्दू दार्शनिक प्रगतिकी आलोचना भी की है। जिन दार्शनिकोंके ग्रंथोंको सामने रखकर उन्होंने यह आलोचना की है, उनमें उद्योतकर और कुमारिल जैसे प्रमुख ब्राह्मण दार्शनिक भी हैं। हमने पुनरुक्ति और ग्रंथ-विस्तारके डरसे उनके बारेमें अलग नहीं लिखा, किन्तु यहाँ धर्मकीर्तिकी आलोचनासे उनके विचारोंको हम जान सकते हैं।

(१) नित्यवादियोंका सामान्यरूपसे खंडन—पहिले हम उन सिद्धान्तोंको ले रहे हैं, जिन्हें एकसे अधिक दार्शनिक सम्प्रदाय मानते हैं।

(क) नित्यवादका खंडन—अनित्यवाद (=क्षणिकवाद)का घोर पक्षपाती होनेसे बौद्धदर्शन नित्यवादका जवर्दस्त विरोधी है। भारतके बाकी सारे ही दार्शनिक किसी-न-किसी रूपमें नित्यवादको मानते हैं, जैन और मीमांसक जैसे आत्मवादी ही नहीं चार्वाक जैसे भौतिकवादी भी भूतके सूक्ष्मतम अवयवको क्षणिक (=अनित्य) कहनेके लिए तैयार नहीं थे जैसे कि पिछली सदी तकके यूरोपके यान्त्रिक भौतिकवादी विश्वको मूलईंटों—परमाणुओं—को क्षणिक कहनेके लिए तैयार न थे।

दिग्गज कहते हैं^१—“कारण (स्वयं) विकारको प्राप्त होकर ही दूसरी (चीज) का कारण हो सकता है।” धर्मकीर्तिने कहा—“जिसके होनेके बाद जिस (वस्तु) का जन्म होता है, अथवा (जिसके) विकारयुक्त होनेपर (दूसरी वस्तु) में विकार होता है, उसे उस (पीछेवाली वस्तु) का कारण कहते हैं।”^२

इस प्रकार कारण वही हो सकता है, जिसमें विकार हो सकता है। “नित्य (वस्तु) में यह (वात) नहीं हो सकती, अतः ईश्वर आदि (जो नित्य

^१ “कारण विवर्ति गच्छज्जायतेऽन्यस्य कारणम्” ।

^२ प्र० वा० २।१८१-८२

पदार्थ) हैं, उनसे (कोई वस्तु) उत्पन्न नहीं हो सकती ।”^१

“जिसे अनित्य नहीं कहा जा सकता, वह किसी (चीज) का हेतु नहीं हो सकता । (नित्यवादी) विद्वान् उसी (स्वरूप) को नित्य कहते हैं जो स्वभाव (=स्वरूप) विनष्ट नहीं होता ।”^२

यह भी बतला चुके हैं कि धर्मकीर्त्ति परार्थ-सत् उसी वस्तुको मानते हैं, जो कि अर्थवाली (=सार्थक) क्रिया (करने) में समर्थ हो । नित्यमें विकारका सर्वथा अभाव होनेसे क्रिया हो ही नहीं सकती । आत्मा, ईश्वर, इन्द्रिय आदिसे अगोचर हैं, साथ ही वह नित्य होनेके कारण निष्क्रिय भी हैं; इतनेपर भी उनके अस्तित्वकी घोषणा करना यह साहस मात्र है ।

(ख) आत्मवादका खंडन—चार्वाक और बौद्ध-दर्शनको छोड़ बाकी सारे भारतीय दर्शन आत्माको एक नित्य चेतन पदार्थ मानते हैं । बौद्ध अनात्मवादी हैं, अर्थात् आत्माको नहीं मानते । आत्माको न माननेपर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील चेतना-प्रवाह (=विज्ञान-सतति) एकसे दूसरे शरीरसे जुड़ता (=प्रतिसंधि ग्रहण करता) रहता है, इसे हम पहिले बतला चुके हैं । चेतना (=मन या विज्ञान) सदा कायाश्रित रहता है । जब कि एक शरीरका दूसरे शरीरसे एकदम सन्निकटका सवध नहीं है, मरनेवाला क शरीर भूलोकपर है और उसके बादका सजीव बननेवाला ख शरीर मगललोकमें, ऐसी अवस्थामें क शरीरको छोड़ ख शरीर तक पहुँचनेमें बीचकी एक अवस्था होगी, जिसमें विज्ञानको कायासे विलकुल स्वतंत्र मानना पड़ेगा, फिर “मन कायाश्रित है”—कहना गलत होगा । इसका उत्तर बौद्ध कह सकते हैं, कि हम मनको एक नहीं बल्कि प्रवाह मानते हैं, प्रवाहका अर्थ निरन्तर—अ-विच्छिन्न चली जाती एक वस्तु नहीं, बल्कि, हर क्षण अपने रूपसे विच्छिन्न—सर्वथा नष्ट—होती, तथा उसके बाद उसी तरहकी किन्तु विलकुल नई चीजका उत्पन्न होना, और इस नष्ट-उत्पत्ति-नष्ट-उत्पत्ति से एक विच्छिन्न प्रवाहका

जारी रहना । चेतन-प्रवाह इसी तरहका विच्छिन्न प्रवाह है, वह जीवन-रेखा मालूम होता है, किन्तु है जीवन-विन्दुओंकी पाँती । फिर प्रवाहको विच्छिन्न मान लेनेपर “मन कायाश्रित”का मतलब मनके हर एक “विन्दु”को बिना कायाके नहीं रहना चाहिए । क शरीर—जो कि स्वयं क्षण-क्षण पङ्क्ति-शील शरीर-निर्माणक मूल विन्दुओं (= कणों) का विच्छिन्न प्रवाह है—का अन्तिम चित्त-विन्दु नष्ट होता है, उसका उत्तराधिकारी ख शरीरके माय होता है । क शरीर-(प्रवाह)के अन्तिम और ख शरीर-(प्रवाह)के आदिम चित्त-विन्दुओं (क-चित्त, ख-चित्त)के बीच यदि किसी ग चित्त-विन्दुको माने तब न आक्षेप किया जा सकता है, कि ग चित्त-विन्दु कायाके बिना है । इस तरह स्थिर (= नित्य या चिरस्थायी) नहीं, बल्कि विजली-की चमकसे भी बहुत तेज गतिसे “आँख मिचौनी” करनेवाले चित्त-प्रवाहके (अनात्म तत्त्व)को मानते हुए भी वह एकसे अधिक शरीरों (= शरीर-प्रवाहों) में उसका जाना सिद्ध करते हैं ।

(a) नित्य आत्मा नहीं—आत्माको नित्य माननेवाले वैभा मानना सबसे जरूरी इस बातके लिए समझते हैं, कि उसके बिना वध—जन्म-मरणमें पड़कर दुःख भोगना, और मोक्ष—दुःखोंसे छूटकर परम “सुखी” हो विचरण करना—दोनों संभव नहीं । इसपर धर्मकीर्ति कहते हैं—

“दुःखकी उत्पत्तिमें कारण (= कर्म) बंध है, (किन्तु) जो नित्य है (वह निष्क्रिय है इसलिए) वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है ? दुःखकी उत्पत्ति न होनेमें कारण (कर्मसे उत्पन्न वधसे) मोक्ष (मुक्त होना) है, जो नित्य है, वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है ? (वस्तुतः) जिने अ-नित्य (= क्षणिक) नहीं कहा जा सकता, वह किमी (चीज)का कारण नहीं हो सकता । नित्य उस स्वरूपको कहते हैं, जो कि नष्ट नहीं होता । इस लज्जाजनक दृष्टि (= नित्यताके सिद्धान्त)को छोड़कर उन्हे (= आत्माको) (अतः) अनित्य कहो ।”^१

(b) नित्य आत्माका विचार (=सत्काय दृष्टि) सारी बुराइयोंकी जड़—“मैं सुखी होऊँ या दुःखी नहीं होऊँ—यह तृष्णा करते (पुरुष)का जो ‘मैं’ ऐसा ख्याल (=बुद्धि) होती है, वही सहज आत्मवाद (=सत्त्व-दर्शन) है। ‘मैं’ ऐसी धारणाके बिना कोई आत्मामें स्नेह नहीं कर सकता, और आत्मामें (इस तरहके) स्नेहके बिना सुखकी कामना करनेवाला वन (कोई गर्भस्थानकी ओर) दौड़ नहीं सकता है।”^१

“जब तक आत्मा-संबंधी प्रेम नहीं छूटता, तब तक (पुरुष अपनेको) दुःखी मानता रहेगा और स्वस्थ (=चिन्ता-रहित) नहीं हो सकेगा। यद्यपि कोई (अपनेको) मुक्त करनेवाला नहीं है, तो भी (‘मैं, मेरा’, जैसे) झूठे ख्याल (=आरोप)को हटानेके लिए यत्न करना पड़ता है।”^२

“यह (क्षणिक मन-, शरीर-प्रवाहसे) भिन्न आत्माका ख्याल है, जिससे उससे उलटे स्वभाव (=वस्तुकी स्थिरता आदि)में राग (=स्नेह) उत्पन्न होता है।”^३

“आत्माका ख्याल (केवल) मोह, और वही सारी बुराइयोंकी जड़ (=दोषोका मूल) है।”^४

“(यह) मोह सत्यकाय दृष्टि (=नित्य आत्माकी धारणा) है, मोह-मूलक ही सारे मल (=चित्त-विकार) है।”^५

धर्मके माननेवालोके लिए भी आत्मवाद (=सत्काय-दृष्टि) बुरी चीज है, इसे बतलाते हुए कहा है—

“जो (नित्य) आत्माको मानता है, उसको ‘मैं’ इस तरहका स्नेह (=राग) सदा बना रहता है, स्नेहसे सुखकी तृष्णा करता है, और तृष्णा दोषोको ढाँक देती है। (दोषोंके ढँक जानेसे वहाँ वह गुणोको देखता है, और) गुणदर्शी तृष्णा करते हुए ‘मेरा (सुख)’ ऐसी (चाह करते) उस (की प्राप्ति)के लिए साधनो (=पुनर्जन्म आदि)को ग्रहण करता है।

^१ प्र० वा० २।२०१-२^२ वहीँ २।१६१-६२^३ प्र० वा० १।१६५^४ वहीँ २।१६६^५ वहीँ २।२१३

इस सत्काय-दृष्टिसे जब तक आत्माकी धारणा है, तब तक वह संसार (=भवसागर) में है। आत्मा (=मेरा) जब है, तभी पराए (=मन)-का ख्याल होता है। मेरा-परायाका भेद जब (पुरुष) में आता है, तो लेना, छोड़ना (=राग-द्वेष) होता है, इन्हीं (लेने छोड़ने) से बँधे सारे दोष (=ईर्ष्या आदि) पैदा होते हैं। जो नियमसे आत्मामें स्नेह करता है, वह आत्मीय (=सुख साधन) से रागरहित नहीं हो सकता।^१

“आत्माकी धारणा सर्वथा अपने (व्यक्तित्वमें) स्नेहका दृढ करती है। आत्मीयोके प्रति स्नेहका बीज (जब मौजूद है, तो वह दोषोको) वैसा ही कायम रखेगा।”^२

“(वस्तुतः आत्मा नहीं नैरात्म्य ही है,) किन्तु नैरात्म्यमें जब (गलतीसे) आत्म-स्नेह हो गया, तो उससे (=आत्मस्नेहसे कि जिसे वह आत्मीय सुख आदिकी चीज समझता है, उसमें) जितना भी लाभ हो, उसके अनुसार क्रिया-परायण होता है। (—बड़ा लाभ न होनेपर छोटे लाभको भी हासिल करनेसे बाज नहीं आता,—जैसे) मत्तकामिनी (=मत्त-गजगामिनी सुन्दरी) के न मिलनेपर (कामुक पुरुष) पशुमें भी कामतृप्ति करता है।”^३

इस प्रकार नित्य आत्मा युक्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता है, और धर्म, परलोक, मुक्तिमें भी उसके माननेसे बाधा ही होती है।

(ग) ईश्वर-खंडन—ईश्वरवादी ईश्वरको नित्य और जगत्का कर्ता मानते हैं। धर्मकीर्ति ईश्वरके अस्तित्वका खंडन करते हुए कहते हैं—

“जैसे (स्वरूपसे) वह (ईश्वर जगत्की सृष्टिके वक्त) कारण वस्तु है, वैसे ही (स्वभावसे सृष्टि करनेसे पहिले) वह अ-कारण भी था। (आखिर स्वरूप एकरस होनेसे दोनो अवस्थामें उसमें भेद नहीं हो सकता फिर) जब वह कारण (माना गया, उसी वक्त) किस (वजह) से (वैसा) माना गया (और) अ-कारण नहीं माना गया ?

“(कारक और अकारक दोनों अवस्थाओंमें एकरस रहनेवाला ईश्वर जब कारण कहा जाता है, तो प्रश्न होता है—) राम (के शरीर) में शस्त्रके लगनेसे घाव और औषधके लगनेसे घाव-भरना (देखा जाता है), शस्त्र और औषध क्षणिक होनेसे क्रिया कर सकते हैं, इसलिए उनके लिए यह सम्भव है; किन्तु यदि (नित्य अतएव निष्क्रिय ईश्वरको कारक मानते हो, तो क्रिया आदि) सबध-रहित ठूँठमें ही क्यों न विष्वकी कारणता मान लेते ?

“(यदि कहो कि ईश्वरके सृष्टिके कारक होनेकी अवस्थासे अकारक अवस्थामें विरोधता होती है, तो प्रश्न होगा—ऐसा होनेमें उसके स्वरूपमें परिवर्तन हो जायगा, क्योंकि) स्वरूपमें परिवर्तन हुए बिना (वह कारक नहीं हो सकता, और नित्य होनेसे) वह कोई व्यापार (=क्रिया) नहीं कर सकता। और (साथ ही) जो नित्य है, वह तो अलग नहीं (सदा वहाँ मौजूद) है, (फिर उसकी सृष्टि-रचना-सबधी) सामर्थ्यके बारेमें यह समझना मुश्किल है (कि सदा अपनी उसी सामर्थ्यके रहते भी वह उसे एक समय ही प्रदर्शित कर सकता है, दूसरे समय नहीं)।

“जिन (कारणों)के होनेपर ही जो (कार्य) होता है, उन (कारणों) से अन्यको उस (कार्य)का कारण माननेपर (कारण ढूँढते वक्त ईश्वर तक ही जाकर थम जाना नहीं पड़ेगा, बल्कि) सर्वत्र कारणोंका खातमा ही नहीं होगा (ईश्वरके आगे भी और तथा उससे आगे और. . . कारण ढूँढने पड़ेंगे।)

“(कारण वही होता है, जिसके स्वरूपमें कार्यके उत्पादनके समय परिवर्तन होता है) भूमि आदि अकुर पैदा करनेमें कारण अपने स्वरूप-परिवर्तन करते हुए होते हैं; क्योंकि उन (=भूमि आदि)के सस्कारसे अकुरमें विरोधता देखते हैं। (ईश्वर अपने स्वरूपमें परिवर्तन किए बिना कारण नहीं बन सकता, और स्वरूप-परिवर्तन करनेपर वह नित्य नहीं रह सकता)।”^१

ईश्वरवादी ईश्वर सिद्ध करनेके लिए इसे एक जबदस्त युक्ति समझते हैं—सन्निवेश (=खास आकार-प्रकार)की वस्तुको देखनेपर कर्त्ताका अनुमान होता है, जैसे सन्निवेशवाले घड़ेको देखकर उमके कर्त्ता कुम्हारका अनुमान होता है। इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं—

“किसी वस्तु (=घट)के बारेमें (पुरुषकी उपस्थितिमें सन्निवेशका होना यदि) प्रसिद्ध है, तो उसके एकसे शब्द (=सन्निवेश पुरुषपूर्वक होता है)की समानतासे (कुम्हारकी तरह ईश्वरका) अनुमान करना ठीक नहीं, जैसे कि (एक जगह कही) पीले रगवाले धुएँको देखकर आपने आगका अनुमान किया, और फिर सभी जगह पीले रगको देखकर आगका अनुमान करते चले। यदि ऐसा न माने तब तो चूँकि कुम्हारने मिट्टीके किसी घड़े आदिको बनाया, इसलिए दीमकोके ‘टीले’को कुम्हारकी ही कृति सिद्ध करना होगा।”

पहिले सामग्रीकारणवादके बारेमें कहते वक्त धर्मकीर्ति बतला चुके हैं, कि कोई एक वस्तु कार्यको नहीं उत्पादन करती, अनेक वस्तु मिलकर अर्थात् कारण-सामग्री कार्य करनेमें समर्थ होती है।

(२) न्याय-वैशेषिक खंडन—वैशेषिक और न्याय-दर्शनमें जगत्को बाहरसे परिवर्तनशील मानते हुए, यूनानी दार्शनिकों—खामकर अस्तूके दर्शन—का अनुसरण करते हुए, बाहरी परिवर्तनके भीतर नित्य एक रस तत्त्वों—चेतन और जड़ मूल तत्त्वोंको सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है। बौद्धदर्शन अपवादरहित क्षणिकताके अटल सर्वव्यापी नियमको स्वीकार करते हुए किसी स्थिरता-साधक सिद्धान्तको माननेके लिए तैयार नहीं था; इसीलिए हम प्रमाणवार्तिकमें धर्मकीर्तिको मुख्यतः ऐसे सिद्धान्तोंका जबदस्त खंडन करते देखते हैं। वैशेषिकने स्थिरवादी सिद्धान्तके अनुसार अपने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—छै पदार्थोंको स्वीकृत किया है, इनमें कर्म और विशेष ही हैं जिनके माननेमें बौद्धोंको आनाकानी

नहीं हो सकती थी, क्योंकि कर्म या क्रिया क्षणिकवादका ही साकार—परमार्थसत्—स्वरूप है और हेतु-सामग्री तथा अपोह (जिसके बारेमें आगे शब्दप्रमाणपर बहस करते वक्त लिखेंगे) के सिद्धान्तोको माननेवाले होनेसे विशेषको भी वह स्वीकार कर लेते थे। वाकी द्रव्य, गुण, सामान्य, सम-वायको वह कल्पनापर निर्भर व्यवहारसत्के तौरपर ही मान सकते थे।

(क) द्रव्य गुण आदिका खंडन—बौद्धोकी परमार्थसत् और व्यवहारसत्की परिभाषाके बारेमें पहिले कहा जा चुका है, उसमें परमार्थसत्की कसौटी उन्होंने—अर्थक्रिया—को रखा है। विश्वमें जो कुछ वस्तु सत् है, वह अर्थ-क्रियासे व्याप्त है जो अर्थक्रियाकारी नहीं है, वह वस्तु सत् (=परमार्थसत्) नहीं हो सकती। विश्व और उसकी “वस्तुओ”के बारेमें ऐसा विचार रखते हुए वह वस्तुतः “वस्तु”को ही नहीं मान सकते थे; क्योंकि “वस्तु”से साधारण जनके मनमें स्थिर पदार्थका ख्याल आता है; इसीलिए बौद्ध दार्शनिकोंने वस्तुके स्थानमें “धर्म” या “भाव” शब्दका अधिक प्रयोग करना चाहा है। “धर्म”को मजहव या मजहवी स्थिर-सत्यके अर्थमें नहीं, बल्कि विच्छिन्न प्रवाहके उन बिन्दुओके अर्थमें लिया है, जो क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होते वस्तुके आकारमें हमें दिखलाई पड़ते हैं। “भाव” (=होना)को वह इसलिए पसन्द करते हैं, क्योंकि वस्तु-स्थिति हमें “है”का नहीं बल्कि “होने”का पता देती है—विश्व स्थिर तत्त्वोका समूह नहीं है कि हम “है”का प्रयोग करें, बल्कि वह उन घटनाओका समूह है जो प्रतिक्षण घटित हो रही हैं। वैशेषिककी द्रव्य, गुणकी कल्पना भावके पीछे छिपे विच्छिन्न-प्रवाहवाले विचारके विरुद्ध है।

वैशेषिकका कहना है—द्रव्य और गुण दो चीजें (पदार्थ) हैं, जिनमें गुण वह है, जो सदा किसीके आधारपर रहता है, गधको हमेशा हम पृथिवी (तत्त्व)के आधारपर देखते हैं, रसको जल (तत्त्व)के आधारपर। उसी तरह जहाँ-जहाँ हम द्रव्य देखते हैं, वहाँ-वहाँ उसके आधेय—गुण—भी पाए जाते हैं, जहाँ-जहाँ पृथ्वी (तत्त्व) मिलता है, वहाँ-वहाँ उसका आधेय गुण गध भी मिलता है। इस तरह गुणके लिए कोई आधार होना चाहिए, यह

ख्याल हमें द्रव्यकी सत्ता स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है, और द्रव्य सदा अपने आधेय गुणके साथ रहता है, यह ख्याल हमें गुणकी सत्ताको स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है। बौद्धोका कहना है—प्रकृति इन द्रव्य गुणके भेदको नहीं जानती, यह तो हम समझनेकी आत्तानीके लिए अलग करके कहते हैं, जिस तरह प्रकृति दस आमोमेंसे एकको पहिला, एकको दूसरा इस तरह नवर देकर हमारे सामने उपस्थित नहीं करती, हर एक आम एक दूसरेसे भिन्न है—वस वह इतना ही जानती है। “भाव प्रतिक्षण विनष्ट हो रहे हैं, भावोंके प्रवाहकी उस तरहकी (प्रतिक्षण विनाशसे युक्त) उत्पत्तिसे (सिद्ध होता है, कि यह उत्पत्ति सदा) स-हेतुक (=कारण या पूर्ववर्ती भावके होनेपर) होती है, इससे आश्रय (=आधार है, सिर्फ इसी अर्थमें लेना चाहिए कि हर एक भावकी उत्पत्तिके पहिले भाव-प्रवाह मौजूद रहता) है, इससे भिन्न अर्थमें (आश्रय, आधार या द्रव्यका मानना) अ-युक्त है।”^१

जैसे जलका आधार घड़ेको मानते हैं, उसी तरह गधका आवार पृथिवी (-तत्व) है, यह कहना गलत है “जल आदिके लिए आधार (की जरूरत) हो सकती है, क्योंकि (गतिशील जलके) गमनका (घड़ेसे) प्रतिबध होता है। गुण, सामान्य (=जाति) और कर्म (तो तुम्हारे मतमें गतिरहित हो द्रव्यके भीतर रहते हैं, फिर ऐसे) गतिहीनोको आधार लेकर क्या करना है ?”^२

इस तरह आधारकी कल्पना गलत साचित होनेपर आधेय गुण आदिका पृथक पदार्थ होना भी गलत ख्याल है। गुण सदा द्रव्यमें रहता है, अर्थात् दोनोंके बीच समवाय (=नित्य) सबध है, तथा द्रव्य गुणका समवायी (=नित्य सबध रखनेवाला) कारण है, यह समवाय और समवायी-कारणका ख्याल भी पूर्व-खंडित द्रव्य-गुणकी कल्पनापर आधारित होनेने गलत है।

(ख) सामान्यका खंडन—गाये करोडो हैं, जब हम उनकी भूत, वर्तमान, भविष्यकी व्यक्तियोंपर विचार करते हैं, तो वह अनगिनत मालूम होती है। इन अनगिनत गाय-व्यक्तियोंमें एक बात हम सदा पाते हैं, वह है गायपन (=गोत्व), जो गाय व्यक्तियोंके मरते रहनेपर भी हर नई उत्पन्न गायमें पाया जाता है। अनेक व्यक्तियोंमें एकसा पाया जानेवाला यह पदार्थ सामान्य या जाति है, जो नित्य—सर्वकालीन—है। यह है सामान्यको सिद्ध करनेमें वैशेषिककी युक्ति, जिसके वारेमें पहिले लिख चुकनेपर भी प्रकरणके समझनेमें आसानीके लिए हमें यहाँ फिर कहना पडा है।

अनुमानके प्रकरणमें धर्मकीर्ति कह चुके हैं, कि सामान्य अनुमानका विषय है, साथ ही सामान्य वस्तु-सत् नही वल्कि कल्पनापर निर्भर है। इस तरह जहाँ तक व्यवहारका सबध है, उसके माननेसे वह इन्कार नही करते इसीलिए वह कहते हैं—

“बाहरी अर्थ (=पदार्थ)की अपेक्षाके बिना जैसे (अर्थ, पदार्थमें) उसे वाचक मान वक्ता जिस शब्दको नियत करते हैं, वह शब्द वैसा (ही) वाचक होता है।

“(एक स्त्रीके लिए भी सस्कृतमें बहुवचन)दारा, (छ. नगरोके बहुवचनवाले अर्थके लिए सस्कृतमें एक वचन) षण्णगरी (छ नगरी) कहा जाता है, जैसे (शब्द-रूपों)में एक वचन और बहुवचनकी व्यवस्थाका क्या कारण है-? अथवा (सामान्य अनेक व्यक्तियोंमें एक होता है, आकाश तो ख सिर्फ एक है फिर) खका स्वभाव खपन (=आकाशपन) यह सामान्य क्यों माना जाता है ?”^१

इसका अर्थ यही है, शब्दोंके प्रयोगमें वस्तुकी पर्वह नही करके वक्ता बहुत जगह स्वतंत्रता दिखलाते हैं, गायपन आदि इसी तरहकी उनकी “स्वतंत्र” कल्पना है, जिसके ऊपर वस्तुस्थितिका फैसला करना गलत होगा।

“(सर्वथा एक दूसरेसे) भिन्नता रखनेवाले भावों (=वस्तुओं)को

लेकर जो एक अर्थ (=गायपन) जतलानेवाली (बुद्धि = 1 न पैदा होती है, जिस)के द्वारा उन (भावों)का (वास्तविक) रूप ढँक (=मवृत हो) जाता है, (इसलिए) ऐसे ज्ञानको संवृति (=वास्तविकताको ढाँकनेवाली) कहते हैं ।

“ऐसी संवृतिसे (भावों=गायों) का नानापन ढँक गया है (इसीलिए) भाव (=गाये आपसमें) स्वयं भिन्नता रखते हुए (भी) किसी (कल्पित) रूपसे अभिन्नता रखनेवालेसे जान पड़ते हैं ।

“उसी (संवृति या कल्पनावाली बुद्धि) के अभिप्रायको लेकर सामान्यको सत् कहा जाता है, क्योंकि परमार्थमें वह अ-मत् (और) उस (संवृति बुद्धि) के द्वारा कल्पित है ।”^१

गायपन एक वस्तु सत् है, जो सभी गाय-व्यक्तियोंमें है, यह रयाल गलत है, क्योंकि—

“व्यक्तियाँ (भिन्न-भिन्न गायें एक दूसरेमें) अनुगत नहीं हैं, (और) न उन (भिन्न गाय व्यक्तियों) में (कोई) अनुगत होनेवाला (पदार्थ) दीख पड़ता है (, जो दीखती है, वह भिन्न-भिन्न गाय-व्यक्तियाँ हैं) । ज्ञानसे अभिन्न (यह सामान्य) कैसे (एकसे) दूसरे पदार्थको प्राप्त हो सकता है ?

“इसलिए (अनेक) पदार्थोंमें एकरूपता (=सामान्य) का ग्रहण झूठी कल्पना है, इस (झूठी कल्पना) का मूल (व्यक्तियोंका) पारस्परिक भेद है, जिसके लिए (गोत्व आदि) सज्ञा (=शब्दका प्रयोग होता) है ।”^२

“यदि (सज्ञाओं शब्दों द्वारा पदार्थोंका) भेद (मालूम होता है, तो इतना ही तो शब्दोंका प्रयोजन है, फिर) वहाँ सामान्य या किसी दूसरी (चीजकी कल्पनासे) तुम्हें क्या (लेना) है ?”^३

वस्तुतः गायपन आदि सामान्यवाची शब्द विद्वानोंने व्यवहारके सुभीतेके लिए बनाए हैं ।

“एक (तरहके) कार्य (करनेवाले) भावो (==‘वस्तुओं’)में उनके कार्योंके जतलानेके लिए भेद करनेवाली सज्ञा (की जरूरत होती है, जैसे दूध तथा श्रम देना आदि क्रियाओंको करनेवाली गायोंमें उनके कार्योंके जतलानेके लिए भेद करनेवाली सज्ञाकी; किन्तु गाय-व्यक्तियोंके अनगिनत होनेसे हर व्यक्तिकी अलग-अलग सज्ञा रखनेपर नाम) बहुत बढ़ जाता, (वह) हो भी नहीं सकता था, और (प्रयास) फजूल भी होता, इसलिए (व्यवहार कुशल) वृद्धोंने उस (गायवाले) कार्यसे फर्क करनेके विचारसे एक शब्द (==गाय नाम) प्रयुक्त किया ।”

फिर प्रश्न होता है, सामान्य (==गायपन) जिसे नित्य कहते हो, वह एक-देशी है या सर्वव्यापी? यदि कहो वह एकदेशी अर्थात् अपनेसे सबध रखनेवाली गाय-व्यक्तियोंमें ही रहता है, तो—

“(एक गायमें स्थित सामान्य उस व्यक्तिके मरने तथा दूसरी गायमें उत्पन्न होनेपर एकसे दूसरेमें) न जाता है, और न उस (व्यक्तिकी उत्पत्ति वाले देश)में (पहिलेसे) था (, क्योंकि वह सिर्फ व्यक्तियोंमें ही रहता है) और (व्यक्तिकी उत्पत्तिके) पीछे (तो जरूर) है, (क्योंकि सामान्यवे विना व्यक्ति हो नहीं सकती); यदि (सामान्यको) अशवाला (मानते हो, जिसमें कि उसका एक अश=छोर पहिली व्यक्तिसे और दूसरा पीछे उत्पन्न होनेवाली व्यक्तिसे सबद्ध हो) । और (अशरहित माननेपर यह नहीं कह सकते कि वह) पहिलेके (उत्पन्न होकर नष्ट होते) आधारक छोड़ता है (क्योंकि ऐसा माननेपर देश-कालके अन्तरको नित्य सामान्य जब पार करेगा, उस वक्त उसे व्यक्तिसे अलग भी मानना पड़ेगा, इस प्रकार बेचारे सामान्यवादीके लिए) मुसीबतोंका अन्त नहीं ।

“दूसरी जगह वर्त्तमान (सामान्य)का अपने स्थानसे विना हिले उस (पहिले स्थान)से दूसरे स्थानमें जन्मनेवाले (पिंड)में मौजूद होना युक्ति युक्त बात नहीं है ।

“जिस (देश) में वह भाव (=खास गाय) वर्तमान है, उस (देश=स्थान) से (सामान्य गायपन) सबद्ध भी नहीं होता (क्योंकि तुम मानते हो कि सामान्य देशमें नहीं व्यक्तिमें रहता है), और (फिर कहते हो, देशमें रहनेपर भी उस) देशवाले (पदार्थ—गाय-व्यक्ति) में व्याप्त होता है, यह तो कोई भारी चमत्कार सा है ।।

“यदि सामान्यको (एक देगी नहीं) सर्वव्यापी (सर्वज्ञ) मानते हो, तो एक जगह एक गाय-व्यक्ति द्वारा व्यक्त कर दिए जानेपर उसे सर्वत्र दिखाई देना चाहिए, (क्योंकि सर्वव्यापी सामान्यमें) भेद न होने (=एक होने) से व्यक्तिकी अपेक्षा नहीं ।

“(और ऊपरकी बातसे यह भी सिद्ध होता है, कि गायपन सामान्य सर्वत्र है । फिर वह दिखलाई देता क्यों नहीं, यह पूछनेपर आप कहते हैं—क्योंकि उसके लिए व्यजक (=प्रकट करनेवाली) व्यक्ति—गाय—की जरूरत है । इसका अर्थ हुआ—) “(पहिले) व्यजकके ज्ञान हुए बिना व्यग्य (=सामान्य) ठीकसे नहीं प्रतीत होता । तब फिर सामान्य (=गायपन) और सामान्यवान् (=गायपनवाली गाय-व्यक्ति) के सबधमें उलटा क्यों मानते हो ।—अर्थात् गायपन-सामान्य गाय-व्यक्तिकी उत्पत्तिमें पहिले भी मौजूद था ?”^१

अतएव सामान्य है ही नहीं—

“क्योंकि (व्यक्तिसे भिन्न) केवल जातिका दर्शन नहीं होता, और (गाय-)व्यक्तिके ग्रहणके वक्त भी उसके (नामवाची) शब्दरूप (‘गाय’) से भिन्न (कुछ) नहीं दिखाई देता ।”^२

“इसलिए सामान्य अ-रूप (=अ-वस्तु) है, (और वह) रूपों (=गाय-व्यक्तियों) के आधारपर नहीं कल्पित किया गया है; बल्कि (वह व्यक्तियोंकी क्रिया-सबधी) उन-उन विशेषताओंके जतलानके लिए शब्दों द्वारा प्रकाशित किया जाता है ।

“ऐसे (सामान्य)मे वास्तविकता (=रूप)का अवभास अथवा सामान्यके रूपमे अर्थ (=पदार्थ गाय-व्यक्ति)का ग्रहण भ्रान्ति (मात्र) है, (और वह भ्रान्ति) चिरकालसे (वैसे प्रयोगको) देखते रहनेके अभ्याससे पैदा हुई है ।

“और पदार्थों (=विशेषो या व्यक्तियों)का यह (अपनेसे भिन्न व्यक्ति)से विलगाव रूपी जो समानता (=सामान्य) है, और जिस (सामान्य)के विषयमें ये (शब्दार्थ-सवधी सकेत रखनेवाले) शब्द हैं, उसका कोई भी स्व-रूप (=वास्तविक रूप) नहीं है (क्योंकि वे शब्द-व्यवहारके सुभीतेके लिए कल्पित किए गये हैं) ।”^१

(ग) अवयवीका खंडन—हम बतला आए हैं, कि कैसे अक्षपाद अवयवो (=अंगो)के भीतर किंतु उनसे अलग एक स्वतंत्र पदार्थ—अवयवी (=अंगी)—को मानते हैं । धर्मकीर्तिं सामान्यकी भांति अवयवोका व्यवहार (=सवृत्ति)सत् माननेके लिए तैयार हैं, किंतु अवयवोसे परे अवयवी एक परमार्थ सत् है, इसे वह नहीं स्वीकार करते । “बुद्धि (=ज्ञान) जिस आकारकी होती है, वही उस (=बुद्धि)का ग्राह्य कहा जाता है ।”^२ हम बुद्धि (=ज्ञान)से अवयवोके स्वरूपको ही देखते हैं, उसमें हमें अवयवीका पता नहीं लगता, भिन्न-भिन्न अवयवोके प्रत्यक्ष ज्ञानोको एकत्रित कर कल्पनाके सहारे हम अवयवीकी मानसिक सृष्टि करते हैं, जो कि कल्पित छोड़ वास्तविक वस्तु नहीं हो सकता । यदि कहो कि अवयवीका भी ग्रहण होता है तो सवाल होगा—

“एक ही वार अपने अवयवोंके साथ कैसे अवयवीका ग्रहण हो सकता है ? गलेकी कमरी, (सींग) आदि (अवयवो)के न देखनेपर गाय (=अवयवी) नहीं देखी जा सकती ।”^३

जिस तरह वाक्य पढ़ते वक्त पहिलेसे एक-एक अक्षर पढ़नेके साथ वाक्यका अर्थ हमें नहीं मालूम होता जाता, बल्कि एक-एक अक्षर हमारे

सामनेसे गुजरता सकेतानुसार खास छाप हमारे मस्तिष्कपर छोड़ता जाता है, इन्ही छापोंको मिलाकर मन कल्पना द्वारा सारे वाक्यका अर्थ तैयार करता है। उसी तरह हम गायकी सींग, गलकम्बल, पूँछको वारी-वारीने देखते जो छाप छोड़ते हैं, उनके अनुसार गाय-अवयवीकी कल्पना करते हैं, किंतु जिस तरह सामान्य व्यक्तिसे भिन्न कोई वस्तु-सत् नहीं है, उसी तरह अवयवी भी वस्तुसे भिन्न कोई वस्तुसत् नहीं। यदि अवयवी वस्तुतः एक स्वतंत्र वास्तविक पदार्थ होता तो—

“हाथ आदि (मेंसे किसी एक)के कम्पनसे (शरीर)का कपन होता, क्योंकि एक (ही अखंड अवयवी)मे (कम्पन) कर्म (और उमके) विरोधी (अकपन दोनों) नहीं रह सकते, ऐसा न होनेपर (कम्पनवालेसे अ-कम्पनवाला अवयवी) अलग सिद्ध होगा।”^१

अवयवोंके योगसे अवयवी अलग वस्तु पैदा होती है, ऐसा माननेपर अवयवोंके योगके साथ अवयवीके भी मिल जानेसे अवयव+अवयव+अवयव. . =भार जितना होता है, अवयव+अवयव+अवयव +अवयवी=भार बहुत ज्यादा होना चाहिए। क्योंकि (यदि अवयवोंके भार और उसके अनुसार तोलनेपर तराजूका) नीचे जाना होता है, तो (अवयवोंके साथ अवयवीके भी मिल जानेपर) तराजूका नीचे जाना (और अधिक) होना चाहिए।”^२

“क्रमशः (सूक्ष्म अवयवोंको बढ़ाते हुए बहुत अवयवोंसे) युक्त धूलिकी राशिमें एक समय (अलग-अलग अवयवों और उनसे) युक्त (राशि)के भारमें भेद होना चाहिए, और इस (गौरवके) भेदके कारण (सोनेके या चांदीके छोटे-छोटे टुकड़ोंको) अलग-अलग तोलने तथा (उन टुकड़ोंको गलाकर एक पिंड बना) साथ (तोलने) पर सोनेके मापक (=मासा, रत्ती) आदि (मे तोलनेकी) सख्यामे समानता नहीं होनी चाहिए।”^३

^१ प्र० वा० ३।२८४^२ प्र० वा० ४।१५४^३ प्र० वा० ४।१५७, १५८

एक मासा भर सोना अलग तोलनेपर भले ही एक मासा हो, किन्तु जब ६६ मासा सोनेको गलाकर एक डला तैयार किया जाय तो उसमें ६६ मासेके ६६ टुकड़ोके अतिरिक्त उससे बना अवयवी भी आ मौजूद हुआ है, इसलिए अब वजन ६६ मासासे ज्यादा होना चाहिए ।

(संख्या आदिका खंडन)—वैशेषिकने संख्या, सयोग, कर्म, विभाग, आदि गुणोको वस्तुसत्के तीरपर माना है, जिन्हें कि धर्मकीर्ति व्यवहार (=सवृत्ति)-सत् भर माननेके लिए तैयार है, और कहते हैं—

“संख्या, सयोग, कर्म, आदिका भी स्वरूप उसके रखनेवाले (द्रव्य) के स्वरूपसे (या) भेदके साथ कहनेसे बुद्धि (=ज्ञान) में नहीं भासित होता । (इसलिए भासित न होनेपर भी उन्हें वस्तुसत् मानना गलत है) ।

“शब्दके ज्ञानमे (एक घट इस) कल्पित अर्थमें वस्तुओके (पारस्परिक) भेदको अनुसरण करनेवाले विकल्पके द्वारा (संख्या आदिका प्रयोग उसी तरह किया जाता है), जैसे गुण आदिमें (=पाँतीमें ‘एक बड़ी जाति है,’ यहाँ एक भी गुण और बड़ी भी गुण, किन्तु गुणमे गुण नहीं हो सकनेसे एक संख्याके साथ बड़ा परिमाणका प्रयोग नहीं होना चाहिए) अथवा नष्ट या अवतक न पैदा हुआमे (‘एक, दो, बहुत मर गए) या ‘पैदा होंगे’का कहना । निश्चय ही जो एक, दो . संख्या मरे या न पैदा-हुए-जैसे आस्तीत्वशून्य आधारका आधेय—गुण—है, वह कल्पित छोड़ वास्तविक नहीं हो सकता ।”

(३) सांख्य दर्शनका खंडन—सांख्य-दर्शन चेतन और जड़ दो प्रकारके तत्त्वोको मानता है । जिनमें चेतन—पुरुष—तो निष्क्रिय साक्षी मात्र है, हाँ उसके सपर्कसे जड़तत्व—प्रधान—सारे जगत्को अपने स्वरूप-परिवर्तन द्वारा बनाता है । सांख्य प्रधानमें भिन्नता नहीं मानता, और साथही सत्कार्यवाद—अर्थात् कार्यमें पहिलेसे ही पूर्णरूपेण कारणके मौजूद होने—को स्वीकार करता है । धर्मकीर्ति कहते हैं—

“अगर अनेक (=बीज, पानी, मिट्टी आदि) एक (प्रधान=प्रकृति) स्वरूप होते एक कार्य (अकुर) को करते हैं, तो (वही) स्वरूप (=प्रधान) एक (बीज) में (वैसे ही हैं, जैसे कि वह दूसरी जगह), इसलिए (दूसरे) सहकारी (कारण पानी, मिट्टी आदि) फजूल हैं ।

“(पानी, मिट्टी आदि सहकारी कारणोंके न होनेपर बीजके रहनेमें) वह (प्रधान—मौलिक भौतिक तत्व तो) अ-भिन्न—(हैं) और (वह पानी, मिट्टी आदि बन जानेपर भी अपने पहिले) स्वरूपको नहीं छोड़ता (क्योंकि वह नित्य है, और) विशेष (=पानी, मिट्टी आदि) नाशमान है (किंतु हम देखते हैं) एक (सहकारी जल या मिट्टी)के न होनेपर (भी) कार्य (=अकुर) नहीं होता, इससे (पता लगता है कि) वह (अकुर, प्रधानसे नहीं बल्कि) विशेषों (=पानी, मिट्टी आदि)से उत्पन्न होता है ।

“परमार्थवाला भाव (=पदार्थ) वही है, जो कि अर्थत्रिय्याको कर सकता है । (ऐसे अर्थक्रिया करनेवाले हैं मिट्टी, पानी आदि विशेष) और वह (परस्पर भिन्न होनेसे कार्य=अकुरमें) एक-रूप नहीं होते, और जिसे (तुम) एक रूप होता (कहते हो) उस (प्रधान)से (अकुर-) कार्यका सम्भव नहीं (, क्योंकि सत्कार्यवादके अनुसार वह तो, जैसा अपने स्वरूपमें है, वैसा ही मिट्टी आदि बननेपर भी है) ।

“(और प्रधानको हर हालतमें एक रूप माननेपर बीज, मिट्टी, पानी सभी प्रधान-मय और एक रूप हैं, फिर एक बीजके रहनेमें मिट्टी, पानी आदिके न होनेपर भी अकुरकी उत्पत्तिमें कोई हर्ज नहीं होना चाहिए, किन्तु हम) यह स्वभाव (देखते हैं कि) उस (कारण-) स्वरूपमें (बीज, मिट्टी, पानी आदि के आपसमें) भिन्न होनेपर कोई (=बीज, मिट्टी, आदि अकुरका) कारण होता है, दूसरे (आग, सुवर्ण आदि) नहीं, यदि (बीज, मिट्टी, आग, पानी आदि विशेषोंका) अभेद होता, तो (अकुरका आगसे) नाश (और बीज आदिसे) उत्पत्ति (दोनों) एक नाश होती ।”

“(जो अर्थक्रिया करनेवाला^१ है) उसीको कार्य और कारण कहते हैं, वही स्व-लक्षण (=वस्तुसत्) है, (और) उसीके त्याग और प्राप्तिके लिए पुरुषोकी (नाना कार्योंमें) प्रवृत्ति होती है ।

“जैसे (साख्य-सम्मत मूल भौतिक तत्त्व, प्रधानकी सभी भौतिक तत्त्वों—मिट्टी, बीज, पानी आगमें) अभिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (बीज, पानी, आग . प्रधानमय तत्त्व) सभी (कार्यों—अकुर, घडा आदि)के (करनेमें) साधन नहीं होते, वैसे ही, पूर्वपूर्व कारण (क्षणिक परमाणु या भौतिक तत्त्वोंकी) सभी उत्तर-उत्तर कार्यों (मिट्टी, बीज, पानी, आग आदि) में अभिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (कारण) सभी (कार्यों)के (करनेमें) साधन नहीं होते ।

“(यही नहीं, सत्कार्यवादके विरुद्ध कारणसे कार्यको) भिन्न माननेपर (‘सब नहीं) कोई-कोई ही (वस्तुएँ) अपनी विगेषता (=धर्म)की वजहसे (किसी एक कार्यका) कारण हो सकती हैं । किन्तु (सत्कार्यवादके अनुसार कारणसे कार्यको) अभिन्न माननेपर (सभी वस्तुएँ अभिन्न हैं, फिर उनमेंसे) एकका (कही) क्रिया (=कार्य) कर सकना और (कही) न कर सकना (यह दो परस्पर-) विरोधी (वाते) हैं ।”^२

इस प्रकार साख्यका सत्कार्यवाद—मूलतः विश्व और विश्वकी वस्तुएँ कारणसे कार्य अवस्थामें कोई भेद नहीं रखती (प्रधान=पानी, प्रधान=आग, प्रधान=चीनी, प्रधान=मिर्च)—गलत है, और बौद्धोंका असत्-कार्यवाद ही ठीक है, जिसके अनुसार कि—कारण एक नहीं अनेक है, और हर कार्य अपने कारणसे विलकुल भिन्न चीज, यद्यपि हर नया उत्पन्न होनेवाला कार्य अपने कारणसे सादृश्य रखता है, जिससे ‘यह वही है’ का

^१ अर्थक्रियाकारी = अर्थक्रिया-समर्थ-कार्यके उत्पादनमें समर्थ, क्रियाके उत्पादनमें समर्थ, साधक क्रिया करनेमें समर्थ, सफल क्रिया करनेमें समर्थ, क्रिया करनेमें योग्य, क्रिया कर सकनेवाला—आदि इसके अर्थ हैं ।

^२ प्र० वा० १।१७५-१७७

भ्रम होता है ।

(४) मीमांसाका खंडन—मीमांसाके सिद्धान्तोंके बारेमें हम पहिले लिख चुके हैं । मीमांसाका कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण सामने उपस्थित पदार्थ भी वस्तुतः क्या है इसे नहीं बतला सकने, और परलोक स्वर्ग, नर्क, आत्मा आदि जो पदार्थ इन्द्रिय-अगोचर हैं, उनका ज्ञान करानेमें तो वे विलकुल असमर्थ हैं, इसलिए उनका सबसे ज्यादा जोर शब्द-प्रमाण—वेद—पर है, जिसे कि वह अ-मीमांसिक किसी पुरुष (= मनुष्य, देवता या ईश्वर) द्वारा नहीं बनाया अर्थात् अकृत सनातन मानते हैं । वाद प्रत्यक्ष, तथा अगत प्रत्यक्ष अर्थात् अनुमानके सिवा किसी तीसरे प्रमाणको नहीं मानने, और प्रत्यक्ष-अनुमानकी कसौटीपर कसनेमें वेद उनके हिनामयें यज्ञ—कर्मकांड आदि ही नहीं बहुतसी दूसरी गप्पें और पुरोहितोंकी दक्षिणाके लोभसे बनाई जाते गलत साबित होतीं, ऐसी अवस्थामें नभी धर्मानुयायियोंकी भाँति वैदिक पुरोहितोंके लिए मीमांसा जैसे शास्त्रकी रचना करके शब्दप्रमाणको ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण सिद्ध करना जरूरी था । बृद्धमें लेकर नागार्जुन तक ब्राह्मण-पुरोहितोंके जवर्दस्त हथियार वेदके कर्मकांड और ज्ञानकांडपर भारी प्रहार हो रहा था । बुद्धिके नहारे ज्ञानकांडके बचानेकी कोशिश अक्षपाद और उनके भाष्यकार वात्स्यायनने की, जिनपर दिग्नागके कर्कश तर्क-शरोका प्रहार हुआ, जिनमें बचानेकी कोशिश पाण्डिताचार्य उद्योतकर भारद्वाज (४०० ई०) ने की, किन्तु धर्मकीर्तिने उद्योतकरकी ऐसी गति बनाई कि वाचस्पति मिश्रको “उद्योतकरकी बूढ़ी गायोंके उद्धार”के लिए कमर बाँधनी पड़ी ।

किन्तु युक्तिवादियों (= तार्किकों) की सहायतामें वैदिक ज्ञान—और कर्म-कांडके ठीकेदारोंका काम नहीं चल सकता था, इसलिए वादरायणको ज्ञानकांड (= ब्रह्मवाद) और जैमिनि को कर्मकांडपर कलम उठानी पड़ी । उनके भाष्यकार शबर असंगके विज्ञानवादसे परिचित थे । दिग्नागने अक्षपाद और वात्स्यायनकी भाँति शबर और जैमिनिपर भी जवर्दस्त चोट की; जिसपर नैयायिक उद्योतकरकी भाँति मीमांसक कुमारिल भट्ट मैदानमें आए ।

धर्मकीर्त्ति उद्योतकरपर जिस तरह प्रहार करते हैं, उससे भी निष्ठुर प्रहार उनका कुमारिलपर है। वेद-प्रमाणके अतिरिक्त मीमांसक प्रत्यभिज्ञाको भी एक जवर्दस्त प्रमाण मानते हैं, हम इन्हीं दोनोंके बारेमें धर्मकीर्त्तिके विचारोंको लिखेंगे।

(क) प्रत्यभिज्ञा-खंडन—पदार्थ (=राम)को सामने देखकर “यह वही (राम) है” ऐसी प्रत्यभिज्ञा (=प्रामाणिक स्मृति) स्पष्ट मालूम होनेवाली (=स्पष्टावभास) प्रत्यक्ष प्रमाण है,—मीमांसकोकी यह प्रत्यभिज्ञा है। बौद्ध इस प्रत्यभिज्ञाको “यह वही”की कल्पनापर आश्रित होनेसे प्रत्यक्ष नहीं मानते और “स्पष्ट मालूम होनेवाली”के बारेमें धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

“(काटनेपर फिरसे जमे) केशों, (मदारीके नये-नये निकाले) गोले, तथा (क्षण-क्षण नष्ट हो नई टेमवाले) दीपों . . . में भी (‘यह वही है’ यह) स्पष्ट भासित होता है (; किन्तु क्या इससे यह कहना सही होगा कि केश—गोला—दीप वही है ?) ।

“जब भेद (प्रत्यक्षतः) ज्ञात है, (तो भी) वैसा (=एक होनेके भ्रमवाला अभेद-) ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है ? इसलिए प्रत्यभिज्ञाके ज्ञानसे (केश आदिकी) एकताका निश्चय ठीक नहीं है ।”^१

(ख) शब्दप्रमाण-खंडन—यथार्थ ज्ञानको प्रमाण कहा जाता है, शब्दप्रमाणको माननेवाले कपिल, कणाद, अक्षपाद प्रत्यक्ष अनुमानके अतिरिक्त यथार्थवक्ता (=आप्त) पुरुषके वचन (=शब्दको) भी प्रमाण मानते हैं। मीमांसक “कौन पुरुष यथार्थवक्ता है” इसे जानना असंभव समझते हुए कहते हैं—

(१) अपौरुषेयता फ़ज़ूल—“यह (पुरुष) ऐसा (=यथार्थवक्ता) है या नहीं है, इस प्रकार (निश्चयात्मक) प्रमाणोंके दुर्लभ होनेसे (किसी) दूसरे (पुरुष)के दोषयुक्त (=भूठे) या निर्दोष (=सच्चे, यथार्थवक्ता)

होनेको जानना अति कठिन है ।^१

और फिर—

“(किन्हीं) वचनोके झूठे होनेके हेतु (ये अज्ञान, राग, द्वेष आदि) दोष पुरुषमें रहनेवाले हैं, (इसलिए पुरुषवाले=पौरुषेय वचन झूठे होते हैं, और) अ-पौरुषेय सत्यार्थ ...।”^२

इसके उत्तरमें धर्मकीर्ति कहते हैं—

“(किन्हीं) वचनोके सत्य होनेके हेतु (ज्ञान, अराग, अ-द्वेष आदि) गुण पुरुषमें रहनेवाले हैं, (इसलिए जो वचन पुरुषके नहीं हैं, वह सत्य कैसे हो सकते हैं, और जो) पौरुषेय (हैं, वही) सत्यार्थ (हो सकते हैं) । . . .^३

“(साथ ही शब्दके) अर्थको समझानेका साधन है (गाय शब्दका अर्थ ‘सींग-मूँछ-गलकम्बलवाला पिंड’ ऐसा) सकेत (और वह सकेत) पुरुषके ही आश्रयसे रहता (पौरुषेय) है । इस (सकेतके पौरुषेय होने) से वचनोके अपौरुषेय होनेपर भी उनके झूठे होनेका दोष सम्भव है ।

“यदि (कहो शब्द और अर्थका) सवध अ-पौरुषेय है, तो (आग और आँचके सवधकी भाँति उसके स्वाभाविक होनेसे सकेतसे) अज्ञान पुरुष को भी (सारे वेदार्थका) ज्ञान होना चाहिए । यदि (पौरुषेय) सकेतसे वह (सवध) प्रकट होता है, तो (सकेतसे भिन्न कोई) दूसरी कल्पना (सवधको व्यवस्थापित) नहीं कर सकती ।

“यदि (वस्तुतः) वचनोका एक अर्थमें नियत होना (प्रकृति-निष्ठ) होता, तो (एक वचनका एक छोड़) दूसरे अर्थमें प्रयोग न होता ।

“यदि (कहो—एक वचनका) अनेको अर्थों (=पदार्थों)से (वाच्य-वाचक) सवध (स्वाभाविक) है, तो (एक ही वचनसे) विरुद्ध (अर्थों-की) सूचना होगी, फिर ‘अग्निष्टोम याग स्वर्गका साधन है’ इस वचनका अर्थ ‘अग्निष्टोम याग नरकका साधन है’ भी हो सकता है ।^४

^१ प्र० वा० १।२२२

^२ वहीं १।२२७

^३ वहीं १।२२७, २२८

^४ वहीं १।२२७-२३१

जैसे भी हो वेदको पुरुषरचित न माननेपर भी षिंड नहीं छूटता, क्योंकि, “(शब्द-अर्थके संबंधको) पुरुष (-सकेत) द्वारा न-संस्कार्य (=न प्रकट होनेवाला माननेपर वचनोकी ही) विलकुल निरर्थकता होगी; (क्योंकि शब्दार्थ-संबंधके सकेतको सभी लोग गुरु-शिष्य संबंधसे ही जानते हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता) । यदि (पुरुष द्वारा) संस्कार (होने)को स्वीकार करते हो तो यह ठीक गजस्नान हुआ (—वेद-वचन और उसके शब्दार्थ-संबंधको तो पौरुषेय नहीं माना, किन्तु शब्दार्थ-संबंधके सकेतको पुरुष द्वारा ही संस्कार्य मानकर फिर वचनसे मिलनेवाले ज्ञानके सच-भूठ होनेमें सन्देह पैदा कर दिया) ।”^१

और वस्तुतः वेदको जैमिनि जिस तरह अपौरुषेय सिद्ध करना चाहते हैं, वह विलकुल गलत है ।—

“(‘चूँकि वेद-वचनोंके) कर्त्ता (पुरुष) याद नहीं इसलिए (वह) अपौरुषेय है’—ऐसे भी (ढीठ) बोलनेवाले हैं ! धिक्कार है (जगत्में) छाये (इस जड़ताके) अन्वकारको ! ।”^२

अपौरुषेयता सिद्ध करनेके लिए “कोई (कहता है—) ‘जैसे यह (आगे-का विद्यार्थी) दूसरे (पुरुष—अपने गुरु—से) बिना सुने इस वर्ण (=अक्षर) और पद (के) क्रम (वाले वेद)को नहीं बोल सकता, वैसे ही कोई दूसरा पुरुष (=गुरु) भी (अपने गुरु और वह अपने गुरु . . . से सुने बिना नहीं बोल सकता; और इस प्रकार गुरुओकी परम्पराका अन्त न होनेसे वेद अनादि, अपौरुषेय सिद्ध होता है ।)”^३

किन्तु ऐसा कहनेवाला भूल जाता है—“(वेदसे भिन्न) दूसरे (पुरुषके) रचित (रघुवंश आदि) ग्रंथ भी (गुरु-शिष्यके) संप्रदायके बिना (पढ़ा) जाता नहीं देखा गया, फिर इससे तो वह (=रघुवंश) (वेदकी) तरह (अनादि) अनुमान किया जायेगा ।”^४

^१ प्र० वा० १।२३३

^२ वहीं १।२४२, २४३

^३ वहीं १।२४२, २४३

^४ वहीं १।२४३, २४४

गुरु-शिष्य, पिता-पुत्रके सवधसे हर एक तरहकी बात मनुष्य मीग्वता है, और इसीसे मीमांसक वेदको अनादि सिद्ध करते हैं, फिर "वैना तो म्लेच्छ आदि (अ-भारतीय जातियो) के व्यवहार (अपनी माँ और बेटासे व्याह आदि) तथा नास्तिकोंके वचन (ग्रथ) भी अनादि (मानने पढेगे । और) अनादि होनेसे (उन्हें भी वेद) जैसे ही स्वतः प्रमाण मानना होगा ।"^१

"फिर इस तरहके अपौरुषेयत्वके सिद्ध होनेपर भी (जैमिनि और कुमारिलको) कौनसा फायदा होगा (, क्योंकि इससे तो सब धान वाईस-पैसेरी हो जावेगा) ।"^२

(b) अपौरुषेयताकी आड़में कुछ पुरुषोंका महत्त्व बढ़ाना—वस्तुतः एक दूसरे ही भावसे प्रेरित होकर जैमिनि-कुमारिल एड-कम्पनीने अपौरुषेयताका नारा बुलद किया है—

"(इस वेद-वचनका) 'यह अर्थ है, यह अर्थ नहीं है' यह (वेदके) शब्द (खुद) नहीं कहते । (शब्दका) यह अर्थ तो पुरुष कल्पित करते हैं, और वे रागादि-युक्त होते हैं । (उन्हीं रागादिमान् पुरुषोंके बीच जैमिनि वेदार्थका तत्त्ववेत्ता है । फिर प्रश्न होता है—) वह एक (जैमिनि . . . ही) तत्त्ववेत्ता है, दूसरा नहीं, यह भेद क्यों ? उस (=जैमिनि)की भाँति पुरुषत्व होते भी किसी तरह किसी (दूसरेको) जानी तुम क्यों नहीं मानते ?"^३

(c) अपौरुषेयतासे वेदके अर्थका अनर्थ—आप कहते हैं, चूँकि "(पुरुष) स्वयं रागादिवाला (है, इसलिए) वेदके अर्थको नहीं जानता, और (उसी कारण वह) दूसरे (पुरुष)से भी नहीं (जाना जा सकता, बेचारा) वेद (स्वयं तो अपने अर्थको) जतलाता नहीं, (फिर) वेदार्थकी क्या गति होगी ? इस (गडबडी)से तो 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे' इस श्रुतिका अर्थ 'कुत्तेका मांस भक्षण करे' नहीं है इसमें क्या प्रमाण है ?

“यदि (कहो,) लोगोमें बात प्रसिद्ध है (जिससे इस तरहका अर्थ नहीं हो सकता), तो (सवाल होगा, सभी लोग तो रागादिवाले हैं) उनमें कौन (स्वर्ग जैसे) अतीन्द्रिय पदार्थका देखनेवाला है, जिसने कि अनेक-अर्थवाले शब्दोमें ‘यही अर्थ है’ इसका निश्चय किया है ?

“स्वर्ग, उर्वशी आदि (कितने ही वैदिक) शब्दोका (वेदज्ञ होनेका दावा करनेवाले मीमासको द्वारा किया गया लोक-) रूढिसे भिन्न अर्थ भी देखा जाता है (, जैसे स्वर्गका लोकसमत अर्थ है—मनुष्यसे बहुत ऊँचे दर्जेके विशेष पुरुषोका वासस्थान, जहाँ अ-मानुष सुख तथा उसके नाना साधन सदा सुलभ है; उसके विरुद्ध मीमासक कहते हैं, कि वह दुःखसे सर्वथा रहित सर्वोत्कृष्ट सुखका नाम है, उर्वशीका लोक-सम्मत अर्थ है, स्वर्गकी अप्सरा, किन्तु उसके विरुद्ध मीमासक वेदज्ञ उसे अरणि या पात्री (नामक यज्ञपात्रोका पर्याय बतलाते हैं); फिर उसी तरह ‘जुहुयात्’का अर्थ ‘कुत्ता-मांस खाओ’। सभी तरहके अर्थ लग सकनेवाले दूसरे शब्दों (‘अग्निहोत्र जुहुयात्’)में वैसे ही (‘कुत्ता-मांस खाओ’ इस अर्थकी) कल्पना (भी) मानो।”^१

अपौरुषेयताका नारा पुरोहितोकी वैसी ही परवचना मात्र है, जैसे कि राजगृहका मार्ग पूछनेपर “कोई कहे ‘यह ठूँठ कहता है कि यह मार्ग है’, और दूसरा (पुरुष कहे ‘यह मार्ग है’ इसे) मैं खुद कहता हूँ। (अब आप) इन दोनोंकी (वंचना और सचाईकी खुद) परीक्षा कर सकते हैं।”^२

(d) वेदकी एक बात सच होनेसे सारा वेद सच नहीं—वेदका एक वाक्य है “अग्निहिमस्य भेषज” (=आग सर्दीकी दवा है), इसे लेकर मीमासक कहते हैं—“चूँकि ‘अग्निहिमस्य भेषज’ यह वाक्य विल-कुल सत्य (=प्रत्यक्ष-सिद्ध) है, (उसी तरह ‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग-काम.’—स्वर्गचाहनेवाला अग्निहोत्रं होम करे, इस) दूसरे वचनको भी (उसी) वेदका एक अंश होनेसे (प्रमाण मानना चाहिए।)”^३

इसके उत्तरके बारेमें इतना ही कहना है—

“यदि इस तरह (एक बातकी सच्चाईसे) प्रमाण सिद्ध होता, तो फिर यहाँ अ-प्रमाण क्या है ? बहुभाषी (भूठे) पुरुषकी एक बात भी सच्ची न हो, यह (तो है) नहीं।”^१

(e) शब्द कभी प्रमाण नहीं हो सकता—“जो अर्थ (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) सिद्ध है, उन (के साधन)में वेद (शास्त्र)के त्याग देनेसे (कोई) क्षति नहीं, और जो परोक्ष (==इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ है), वह अभी साबित ही नहीं हो सके हैं, अतः उनमें वेद (==आगम)का (उपयोग) ही ठीक नहीं हो सकता, अतः (वहाँ इसका) त्याग ही नहीं हो सकता (इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्ष दोनों बातोंमें वेद या शब्द-प्रमाणकी गुजाइश नहीं।)”^२

“किसने यह व्यवस्था (==कानून) बनाई कि ‘सभी (बातों)के बारेमें विचार करते वक्त शास्त्र (==वेद)को लेना चाहिए, (और) (वेदके) सिद्धांतको न जाननेवालेको धुआँ देख आग (होने की बात) न ग्रहण करनी चाहिए।’

“(वेदके फदेसे) रहित (वेद-वचनोंके) गुण या दोषको न जानने-वाले सहज प्राणी (==सीधे-सादे आदमीके मत्थे वेद आदिकी प्रमाणता रूपी) ये सिद्धान्त विकट पिशाच किसने थोपे ?”^३

अन्तमें धर्मकीर्तिने मीमांसकोंके प्रत्यक्ष, अनुमान जैसे प्रमाणोंको छोड़ “अपौरुषेय वेद”के वचनपर आँख मूँदकर विश्वास करनेकी बातपर जोर देनेका जवर्दस्त खडन एक दृष्टान्त देकर किया—कोई दुराचारिणी (स्त्री) परपुरुषके समागमके समय देखी गई, और जब पतिने उसे डाँटा, तो उसने पासकी स्त्रियोंको सबोधन करके कहा,—‘देखती हो वहिनो ! मेरे पतिकी बेवकूफीको ? मेरी जैसी धर्मपत्नीके वचन (==शब्द-प्रमाण)पर विश्वास न कर वह अपनी आँखोंके दो बुलबुलो (==प्रत्यक्ष और अनु-

मान)पर विश्वास करता है' ।”^१

(५) अ-हेतुवाद खंडन—कितने ही ईश्वरवादी और सन्देहवादी दार्शनिक विश्वमें कार्य-कारण-नियम या हेतुवादको नहीं मानते । इस्लामिक दार्शनिकोंमें अश-अरीने कार्य-कारण-नियमको ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्तामें भारी बाधा समझा, और इसे एक तरह भौतिकवादकी छिपी हिमायत समझ, बतलाया कि चीजोंके पैदा होनेमें कोई कारण पहिलेसे उपस्थित नहीं; अत्ला मियाँ हर वस्तुको हर वक्त बिलकुल नई—असत्से सत्के रूपमें—बनाते हैं । अश-अरीके अतिरिक्त कुछ सन्देहवादी आधुनिक और प्राचीन दार्शनिक भी हैं, जो विश्वकी वस्तुओंकी रचनामें किसी प्रकारके कार्य-कारण नियमको नहीं मानते । वह कहते हैं, चीजे न किसी कारणसे बनती हैं, और न तुरन्त नष्ट हुए अपने पूर्वगामीके स्वभाव आदिमें सदृश उत्पत्ति होनेके किसी नियमका अनुसरण करती हैं । वह कहते हैं—

“(जैसे) काँटे आदिमें तीक्ष्णता आदिका (कोई) कारण नहीं, उसी तरह (जगत्में) यह सब कुछ बिना कारण (अ-हेतुक) है ।”^२

धर्मकीर्त्ति उत्तर देते हैं—

“जिसके (पहिले) होनेपर जो (बादमें) जन्मे, अथवा (जिसके) विकारसे (जिसको) विकार हो, वह उसका कारण कहा जाता है, और वह इन (काँटों)में भी है ।”^३

हर उत्पन्न होनेवाली चीजको बिलकुल नई बौद्ध दार्शनिक भी मानते हैं, किन्तु वह उन्हें क्षण-विनाशी विन्दुओंके प्रवाहका एक विन्दु मानते हैं, और इस प्रकार कोई वस्तु-विन्दु ऐसा नहीं, जिसका पूर्व और पश्चाद्-गामी विन्दु

^१ प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३३७ “सा स्वामिना ‘परेण संगता त्वमि’त्युपालब्धाऽऽह—‘पश्यत पुंसो वैपरीत्यं धर्मपत्न्यां प्रत्ययमकृत्वा स्वनेत्रबुद्बुदयोः प्रत्येति’ ।”

^२ प्र० वा० २।१८०-१८१

^३ वहीं २।१८१-१८२

न हो। यही पूर्वगामी विन्दु कारण है और पश्चाद्गामी अपने पूर्वगामी विन्दुके स्वभावसे सादृश्य रखता है, यदि यह नियम न होता, तो आम-खानेवाला आमकी गुठली रोपनेके लिए ज्यादा ध्यान न देता। एक भाव (=वस्तु)के होनेपर ही दूसरे भावका होना, तथा हर एक वस्तुकी अपने पूर्वगामीके सदृश उत्पत्ति, यह हेतुवादको मावित करता है। जबतक विध्वमे सर्वत्र देखा जानेवाला यह उत्पत्ति-प्रवाह और सदृश-उत्पत्ति का नियम विद्यमान है, तबतक अहेतुवाद विलकुल गलत माना जायेगा।

(६) जैन अनेकान्तवादका खंडन—जैन-दर्शनके स्याद्वाद या अनेकान्तवादका जिक्र हम कर चुके हैं। इस वादके अनुसार घटा घड़ा भी है और कपडा भी, उमी तरह कपडा कपडा भी है और घडा भी। इसपर धर्मकीर्तिका आक्षेप है—

“यदि सब वस्तु (अपना और अन्य) दोनो रूप है, तो (दही दही ही है, ऊँट नहीं, अथवा ऊँट ऊँट ही है दही नहीं, इस तरह दहीमें) उगवी विशेषताको इन्कार करनेसे (किसीको) ‘दही खा’ कहनेपर (वह) क्यों ऊँटपर नहीं दौड़ता ? (—आखिर ऊँटमें भी दही वैसे ही मौजूद है, जैसे दही में)।

“यदि (कहो, दहीमें) कुछ विशेषता है, जिस विशेषताके साथ (दही वर्तमान है, ऊँट नहीं, तब तो) वही विशेषता अन्यत्र भी है, यह (वात) नहीं रही, और इसीलिए (सब वस्तु) दोनो रूप नहीं (वल्कि अपना ही अपना है, और) पर ही (पर है)।”

धर्मकीर्तिके दर्शनके इस सक्षिप्त विवरणको उनके ही एक पद्यके माध्यम से समाप्त करते हैं—

“वेद (=ग्रंथ)की प्रमाणता, किसी (ईश्वर)का (मृष्टि-)कर्तापन (=कर्तृवाद), स्नान (करने)में धर्म(होने)की इच्छा रखना, जातिवाद (=छोटी बड़ी जाति-पाँत)का घमंड, और पाप दूर करने के लिए

(शरीरको) सन्ताप देना (=उपवास तथा शारीरिक तपस्याएं करना) —
 ये पाँच हैं, अकल-मारे (लोगों)की मूर्खता (=जड़ता) की निशा-
 नियाँ ।”^१

^१ प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३४२—

“वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः ।
 संतापारंभः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिगानि जाड्ये ॥”

